

* श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गै जयतः *



सर्वोक्तु धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
मक्ति अधोक्षज की अहेतुकी विनश्चूत्य चति मंगलदायक ॥

वर्ष १ } गौराब्द ४७०, मास—विष्णु १८, वार—गर्भोदाशायी
शकवार, ३० चत्र, सम्वत् २०१३, १३ अप्रैल १९५६ } संख्या ११

श्रीश्रील-जगन्नाथाष्टकम्

रूपानुगानां प्रवरं सुदान्तं
 श्रीगौरचन्द्रप्रियभक्तराजम् ।
 श्रीराधिकामाधवचित्तराम
 वन्दे जगन्नाथविभुं वरेण्यम् ॥१॥

भीधामवृन्दावनवासिभक्त-
नक्षत्रराजिस्थितसोमतुल्यम् ।
एकान्तनामाश्रितसंघपालं
वन्दे जगन्नाथविभु' वरेण्यम् ॥३॥

श्रीसूर्यकुण्डाश्रयिनः कृपालो-
विद्वद्वर श्रीमधुसूदनस्य ।
प्रेषु स्वरूपेण विराजमानं
वन्दे जगन्नाथविभू वरेण्यम् ॥१॥

वैराग्यविद्याहरिभक्तिदीपं
दीजन्य-कापश्चविभेदवज्रम् ।
अद्वायुतेष्वादरवृत्तिमन्तं
वन्दे जगन्नाथविभुं वरेण्यम् ॥४॥

संप्रेरितो गौरसुधांशुना य-
श्चक्रे हि तज्जन्मगृह प्रकाशम् ।
देवैर्नुतं वैष्णवसार्वभौमं
वन्दे जगन्नाथविभुं वरेण्यम् ॥५॥

सञ्चायं सर्वं निजशक्तिराशि
यो भक्तिपूर्वं च विनोददेवे ।
तेने जगत्यां हरिनामवन्यां
वन्दे जगन्नाथविभुं वरेण्यम् ॥६॥

श्रीनामधास्त्रोः प्रबल प्रचारे
इहापरं प्रेमरसाद्विमग्नम् ।
श्रीयोगपीठे कृतनृत्यभङ्गं
वन्दे जगन्नाथविभुं वरेण्यम् ॥७॥

मायापुरे धामनि सक्तचित्तं
गौरप्रकाशेन च मोदयुक्तम् ।
श्रीनाम गानैर्गलदध्रुनेत्रं
वन्दे जगन्नाथविभुं वरेण्यम् ॥८॥

हे देव ! हे वैष्णवसार्वभौम ! भक्त्या पराभूत-महेन्द्रविष्णव !
त्वग्दोत्रविस्तारकृति सुपुण्यां वन्दे मुहुर्भक्तिविनोदधाराम् ॥
(श्रीगौदीय-पत्रिका वर्ष १, संख्या १२, से उदृत)

—*—

वैष्णव-दर्शन

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या १०, शुष्ठ २२२ से आगे]

तत्त्ववस्तुको ही भगवान् कहते हैं;
वे अद्वयज्ञानमय हैं ।

तत्त्व-वस्तुको भगवान् कहते हैं । भगवान् कहने से अवैष्णव लोग जैसे मायाके अन्तर्गत एक नश्वर वस्तुकी संज्ञा समझते हैं, भगवान् उस तरहकी कोई वस्तु नहीं हैं । मायाके अन्तर्गत समस्त वस्तुओंके नाम, आकार, गुण और लीलामें परस्पर भेद होता है । किन्तु मायातीत भगवान्के नाम, आकार, गुण और लीलामें परस्पर वैसा कोई भेद नहीं होता । वे अद्वयज्ञानमय वस्तु हैं । मयिक ज्ञान द्वारा भगवान्के साथ ब्रह्म और परमात्माका भेद कलिपत होता है, किन्तु अप्राकृत दर्शनमें मायाकी वैसी कोई भी किया दिखलायी नहीं पड़ती । अतएव उस समय द्रष्टा भगवान्के साथ ब्रह्म और परमात्माका कोई भेद नहीं देख पाता वरन् वह उन्हें अद्वयज्ञान-तत्त्ववस्तुके रूपमें दर्शन करता है ।

वैष्णव-दर्शनोंका विशिष्ट्य

वैष्णव-दर्शनमें भगवान्को सत् और असत् दोनों प्रकाशोंसे श्रेष्ठ और परम स्वतंत्र कहा गया है । वे कालकी सृष्टि होनेके पहले कालके जनक रूपमें वर्तमान थे । सत् और असत् उन्हींसे प्रकाशित हुए हैं । इन दोनों संगोंके अप्रकट कालमें भी वर्तमान रहेंगे । जहाँ भगवत् सत्ताका अधिष्ठान नहीं है, और भगवत् सत्तामें जिसका अधिष्ठान नहीं है, उसे भगवान्की माया कहते हैं । वही माया प्रकाशित होकर आलोक और अन्धकारकी तरह बद्ध जीव और विगुणात्मक जड़ कही जाती है । विशिष्टाद्वैत दर्शनके अनुसार तत्त्ववस्तु अपनी 'शक्ति द्वारा ईश्वर, चित् और अचित्—इन तीन विभागोंमें नित्य प्रकाशित रहते हैं । वस्तुके अद्वयत्वकी हानि पहुँचाए विना ही अपनी शक्तिके वैचित्र्य द्वारा भगवान् तीन प्रकारसे लीला करते हैं । भगवान् चित् और अचित्-

के ईश्वर हैं। वे अनन्त नित्यशक्तिमान् और सविशेष वस्तु हैं। स्वगत, सजातीय, और विजातीय—इन तीन विशेषोंसे वे नित्य विराजमान रहते हैं। शुद्धदैत दर्शनमें भगवान्को सर्वशक्तिमान् और परम रसमय विग्रह माना गया है। भगवान् और आश्रयरूप भक्तमें सेव्य और सेवकका भाव नित्य वर्तमान रहता है। आश्रयरूप जड़ पदार्थमें सेव्य और सेवकका सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव वह भगवान् और जीवसे पृथक् रुतीय है। विषय एक होने पर भी आश्रयोंका वहुत्व होनेके कारण भक्त और जड़ पदार्थ असंख्य हैं। इस तरह भगवान्में पाँच प्रकारकी नित्य भेद-सत्ता नित्य वर्तमान रहती है—
 (१) ईश्वरका जीवसे भेद, (२) ईश्वरका जड़से भेद,
 (३) जीवका जड़से भेद, (४) जीवका दूसरे जीवसे भेद और (५) एक जड़ पदार्थका दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। शुद्धदैत दर्शनमें चिन्मय रसमय विग्रह भगवान् विषय और आश्रयगत सामग्रीके रूपमें नित्य प्रतिष्ठित हैं। जहाँ आश्रयगत चित्सत्ता निर्मल होती है, उस नित्यसत्ता पर भगवान् घनानन्दके सम्बेत्तारूपमें (ज्ञाताकेरूपमें) नित्य लीलामय अनुभूत होते हैं। और जहाँ नश्वर तथा मलयुक्त आश्रयरूप जड़सत्ता होती हैं, वहाँ भगवान्की लीला मायिक दर्शन द्वारा वाधित होती है। भगवान्की लीला सर्वदा वैकुण्ठ होनेपर भी प्रापञ्चिक बुद्धि द्वारा मायिक और अनित्य मात्र दीख पड़ती है। शुद्धदैत दर्शनके अनुसार भगवत्तामें जड़की हेतुता और भेदका आरोप नहीं होता। भगवत् उन्मुख होकर जब दर्शक चित्वस्तुका दर्शन करता है, तब जड़ जगत्की भेदगत सत्ता उसके सत्यदर्शनमें वाधा प्रदान नहीं करती। साथ-ही-साथ दूसरी तरफ वह वस्तुके चिद् वैचित्र्यके नित्य अस्तित्वका भी वाधक नहीं होती। किन्तु विभुचिद् भगवान्के साथ अनुचैतन्य जीवकी सेव्य और सेवकरूपमें जो लीला होती है, वह अद्वयज्ञानका वाधक नहीं होती है। अद्वैतदर्शनके नित्यसत्ता-ज्ञानकी भूमिकामें नश्वर जड़-सत्ता दिखलाई नहीं पड़ती। किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि

वस्तुकी चिद् विचित्रताको भी अस्तीकार किया गया है।

निर्विशेषवादमें भगवत्ताकी कल्पना होती है;

वस्तुतः भगवान्का सविशेषत्व नित्य है

भगवान्की व्यक्तिगत सत्ताके विरोधियोंको अवैष्णव कहा गया है। निर्विशेषवादमें चिन्मय विशेष या पदार्थको भी बलपूर्वक मायिक कहा गया है। भगवान्के नाम, आकर, गुण और लीलाकी रचना माया द्वारा हुई है—ऐसा विश्वास करनेसे भगवत्ताकी कल्पना हो जाती है। भगवान्का नित्य-विशेष माया उत्पन्न होनेसे पहले भी वर्तमान था, मायाकी किया समाप्त होने पर भी रहेगा तथा मायाके इस वर्तमान अवस्थामें भी उसी नित्य विशेषका केवल थोड़ासा प्रतिफलन धर्ममात्र दिया गया है। जो लोग ऐसा समझनेके बदले भगवत्ताको मायिक मानते हैं, उनमें सूक्ष्म बुद्धिका अभाव जानना चाहिये। मायाके राज्यमें ही वैकुण्ठ-वस्तुको रहना होगा, भगवान्में नित्यशक्तिका अभाव है, जिसे जीव अपनी इन्द्रियोंके द्वारा नाप-तौल करनेमें—समझाने-बुझनेमें असमर्थ हैं, वैसे भगवान्की सत्ताकी कोई नित्य स्थिति नहीं है—ऐसे अहंकारके रहते परमार्थ तत्त्वका दर्शन करना असंभव है।

विभु चैतन्य भगवान् एक होकर भी अनन्त और नित्य मूर्तियोंमें अनन्त अगुचैतन्य जीवोंके सेव्य हैं

विभुचैतन्य भगवान्विष्णु मायाके अधीश्वर हैं। अगुचैतन्य विष्णुदास-वैष्णव मायाके वश्य हैं। विभु चैतन्य एक होकर भी अनन्त असंख्य नित्यमूर्तिसे नित्यकाल प्रकाशित रहते हैं। अगु चैतन्यजीव परस्पर भिन्न-भिन्न हैं तथा संख्यामें असंख्य है। वे सभी नित्यकाल अपने सेव्य भगवान्की सेवामें मम्न रहते हैं। किन्तु जब वे मायाको अपना ईश्वर मानकर उसकी अनित्य सेवामें तत्पर होते हैं, तब अपना स्वरूप भूलकर स्वयं विभुबद्ध या भगवान् होना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में वे मायाके अधीन हो जाते हैं। अगु चैतन्य जीवके स्वरूपमें नित्य-वृहत्वका

अभाव होता है। अतः उसमें सेव्यभावका भी अभाव होता है। उसके चिन्मय स्वरूपमें भगवत् दास्य ही नित्यकाल विराजमान रहता है। जब वह हरिसेवासे विमुख हो जाता है, तभी वह मायिक ब्रह्माएडमें आकर मायाकी सेवा करता है तथा अनित्य विषय-सुखोंमें मत्त हो जाता है। जब जीव मायिक ब्रह्माएडमें देवता या मनुष्यके रूपमें आता है, तो समझना चाहिये कि वह अपनी हरिविमुखताके फल-स्वरूप दंड भोगनेके लिये मायाके कारागारमें उपस्थित हुआ है। स्वर्ग या नरक—दोनों ही हरिविमुख जीवोंके नित्य सुख प्राप्तिके मार्गमें वाधक हैं। यही नहीं, मायिक जगत्‌के अनित्य सुखोंकी सभी कामनाएँ नित्य-सुखकी प्राप्तिमें रोड़ा स्वरूप हैं।

भगवत्‌शक्ति मायाकी परिणतिको अपना भोग्य मानने वाले जीव अभक्त हैं

भगवान्की आवरणात्मिका शक्तिका नाम माया है। यह जीवोंको आवरण करनेमें समर्थ होती है। भोगदुद्धिका प्रावल्य होनेसे जीवोंमें कृष्णसेवाकी भावनाका अभाव होजाता है। जिससे वे जब विषयोंको अपना भोग्य समझने लगते हैं। उनका यही भोक्ता अभिमान उनको अभक्त बना देता है। फिर किसी सौभाग्यसे भगवत् सेवाको ही अपना एकमात्र धर्म अनुभव करनेसे उनकी सारी मायिक बासनाएँ क्रमशः दूर हो जाती हैं।

तत्त्ववस्तु निःशक्तिक नहीं, उसीकी उपादान-शक्ति लाभकर माया सृष्टि करती है

मायाको इस ब्रह्माएडका उपादान कारण माना जाता है। उसके उपादान कारण कहे जाने पर भी भगवान्की उपादान-शक्ति ही मायाके भीतरसे कार्य करती है। जैसे लोहा अनिसे दाहिकाशक्ति लाभ कर अन्यान्य वस्तुओंको जलानेमें समर्थ होता है। उसी तरह माया भगवान्‌के निकट उपादान-शक्ति लाभ कर जगत्‌की सृष्टि करती है। इसीलिये मायाको जगत्‌का उपादान कारण कहा जाता है। मायावादियोंका कहना है कि वस्तु (ब्रह्म) निःशक्तिक है तथा जितने प्रकारकी

विचित्रताएँ देखी जाती हैं—सभी मायासे उत्पन्न होती हैं। किन्तु वह उनकी भूल है। वैष्णवलोग वैसे दिश्वासको प्राकृत या सहजिया विश्वास कहते हैं।

भगवान् रसमय वस्तु हैं, जड़ रसको अतिक्रम कर भगवान्की लीलामें प्रवेश करनेसे ही नित्य कल्याण होता है

जो मनुष्य वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शब्दतुल्य शरीरको ही आत्मा—‘मैं’, स्त्री-पुत्र आदिको ही अपना अर्थात् ‘मम’ और मिठ्ठी, काठ, पत्थर आदि पर्यावरणको ही इष्ट देव मानता है तथा केवल जलको ही तीर्थ समझता है, वह प्राकृत या अवैष्णव है। फिर यदि वह आसक्ति परित्यागकर विषयोंको कृष्ण-सम्बन्धी जानकर उनमें से यथायोग्य अर्थात्-उपयुक्त विषयोंको प्रदण करे तो उसका प्राकृत विश्वास दूर हो जाता है और वह अप्राकृत हरिसेवाके उन्मुख हो जाता है। तब वह श्रीहरिके साथ सम्बन्धयुक्त वस्तुओंको कृष्ण-सेवाका उपकरण जानकर मायावादी मुमुक्षुकी तरह उन्हें अपने भोगप्रय मायिक विषयोंके साथ समान जानकर त्यागकरनेके लिये परामर्श नहीं देता। इस संसार में जीव कृष्णविमुख होकर—कृष्ण-सेवा भूलकर प्राकृत अभिमानमें मत्त होकर अन्यान्य वस्तुओंके साथ शान्त, दास्य, सख्य, बात्सल्य और मधुर रस स्थापनकर जड़ रसका रसिक हो पड़ा है। किन्तु नभी वह ऐसा अनुभव करता है कि जड़रसके सभी आश्रय चंगाभंगुर और अनुपादेय हैं, तभी वह जान पाता है कि कृष्णके अतिरिक्त अन्यान्य विषयोंके साथ सम्बन्ध स्थापन कर वह अत्यन्त भ्रान्तिमें पड़ा हुआ है। विकृत रस और मायिक आश्रय ही जीव और भगवान्‌के बीच दीवार बनकर जीवकी अभीष्ट-सिद्धिके मार्गमें वाधक बने हुए हैं। ऐसी आवस्थामें कोई-कोई मायिक-वस्तुओंको विषय-भोगजानकर उनका सङ्ग परित्याग करनेकी उपलब्धी करने जाकर निर्विशेषवादी होकर भगवान्‌से विमुख हो पड़ते हैं। धर्म, अर्थ और कामके बदले अब मुक्तिही उनका

आराध्य विषय हो पड़ता है। चिन्मय रस-राहित्यको श्रेयस्कर मानते हैं तथा भगवान्‌को रसमय कहनेमें भी शक्ति हो पड़ते हैं। वे परलोकमें तमिलमय एवं विचित्रताहीन अवस्थाका नित्य अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यदी विश्वास उन्हें कंस, शिशुपाल आदिके आराध्य लोक में ले जाकर उनका आत्म-विनाश साधन करता है। प्राकृत विश्वासके अधीन होकर कृष्ण-सेवा से विमुख विचारक पुतना आदि कपटाचारियोंकी तरह कृष्ण-सेवा दिखलाकर मायावादी हो पड़ते हैं। और फिर मरनेके बाद चिद-विशेषसे रहित होकर निविशेषत्वमें लीन हो जाते हैं। जड़ रसमें छबे रहनेके कारण वैकुण्ठ रसको प्रहण न कर पानेसे बद्धजीव नीरस मायावादकी अवतारणाकर शुद्ध और नित्य रससे बंचित हो जाते हैं इस तरह वे अपना अमंगल स्वयं बरण करते हैं। किन्तु वैष्णव दार्शनिक इस विचारको भ्रान्त समझते हैं। वे देखते हैं कि नित्य रसमय वस्तुका विकृत प्रतिफलन उस भोगमय अनित्य अनुपादेय जगतमें जड़ रसके रूपमें प्रकाशित

होकर नाना प्रकारकी विशृङ्खलता उत्पन्न किए हुए हैं। इन अनर्थोंको अतिक्रमकर अद्वाके साथ अप्राकृत नित्य रसमय हरिलीलामें प्रवेश करनेसे उनका नित्य कल्याण हो सकता है। तभी मायाके जालसे मुक्त होने पर वैष्णव दार्शनिकोंका यह निरपेक्ष गान उनके मनमें सर्वदा नृत्य करने लगेगा —

विक्रीदितं ब्रजवधूभिरिदृच विष्णोः

अद्वान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेदयः ।

भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

उस समय वैष्णव दार्शनिकोंका यह कथन भी उपरोक्त गीतकी सहायता करेगा ।

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।

अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाक्ष यदपाश्रयाम् ॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतश्चाभिपद्यते ।

अनर्थोपशमं साज्ञादभक्तियोगमधोऽजे ॥

—३५विष्णुपाद श्रीलभक्तिसिद्धांत सरस्वती

प्रवृत्ति और निवृत्ति

[एवं प्रकाशित वर्ष १, संख्या १०, पृष्ठ २२४ से आगे]

वेदोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग

दूसरे लोगोंके अमपूर्ण विचारोंका परित्याग कर उनके सत्य वचनोंको प्रहण करना ही हमारे लिए शांखनीय और आदरणीय है। उत्तरणके लिए आचार्य शंकरका मायावाद आदरणीय न होने पर भी उनका निम्नलिखित वचन सत्य होनेके कारण प्रहण किया जाता है। उन्होंने श्रीगीता-भाष्यके प्रारंभमें लिखा है:—

‘द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति-
लक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च ।’

धर्म वास्तवमें दो प्रकारका होता है—प्रवृत्ति-मूलक और निवृत्तिमूलक। सम्पूर्ण शास्त्रोंकी आलो-

चना करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रवृत्ति-धर्मका फल — भोग होता है और निवृत्तिधर्मका—सुकृति।

प्रवृत्तिधर्म और लौकिक क्रिया

प्रवृत्तिधर्मका अवलम्बन करनेसे संसारमें अधिकतर उन्नति होती है। जैसे—दुर्गोत्सव, अश्वमेध और अग्निहोत्र आदि क्रियाओंके द्वारा प्रतिष्ठा पायी जा सकती है तथा लोगोंका कृपापात्र हुआ जा सकता है। प्रवृत्ति-मार्गसे संसारकी बहुत कुछ उन्नति होती है। परिदृत लोग प्रवृत्तिमार्गका अवलम्बनकर अनेक ग्रन्थोंकी रचना करते हैं, वैज्ञानिक तत्त्वोंका आविष्कार करते हैं तथा भौतिक-पदार्थोंको नाना भागोंमें विभक्तकर उसे जगत्के सामने नये रूपमें प्रकाशित करते हैं।

तरल पदार्थोंके गुणोंकी खोजकर उनके द्वारा मानव-जातिको बया लाभ हो सकता है—उसे स्थिर करते हैं। विद्युत-शक्तिका आविष्कार कर तार और रेडियो द्वारा समाचार भेजने आदि शिल्पोंकी भिक्षि स्थापन करते हैं। वाष्पतन्त्र (Steam) द्वारा जहाज, वायुयान तथा मोटर गाइयोंको चलाते हैं। बृक्षों, गुल्मों तथा लताओंका गुण अनुसंधान कर विचित्र-विचित्र औषधियोंका निर्माण करते हैं। इसके अतिरिक्त सांसारिक विषयोंके सम्बन्धमें भी वे बहुतसा काम करते हैं। नाना प्रकारकी सम्यताका नियम निर्दीरित करते हैं। सरकार और जनताका सम्बन्ध, अर्थके द्वारा जीवन-यापन करनेका उपाय, ऋण-प्रदान तथा ऋण-दानके विचारों द्वारा अभावोंकी पूर्ति, गृह, प्राम, नगर तथा दुकान स्थापना द्वारा व्यावहारिक अभावोंको दूर करना इत्यादि विषयोंको नियमत और नियंत्रित करते हैं। विवाह आदि संस्कारों द्वारा प्रजावृद्धि और न्यायपूर्वक स्त्रीसंग द्वारा देह तथा बलकी रक्षा करते हैं। शिल्पी प्रवृत्तिके अधीन होकर तरह-तरहके अलंकार, वस्त्र, आसन, दीपालोक, द्रव्याधार, खाट, गृह, पलङ्ग आदिका निर्माण कर प्रवृत्तिशाली लोगोंका सुख बढ़ाते हैं। इन द्रव्योंके प्रति स्वासकर गृह-परिवारादि और यशके प्रति उन लोगोंकी इतनी आसक्ति होती है कि वे अपने प्रतिद्वन्द्वियोंके साथ युद्धमें रक्त-पात आदि करते ही रहते हैं। ये सभी न्यायसंगत प्रवृत्तियाँ हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त बहुतसी अन्याय प्रवृत्तियाँ भी हैं।

प्रवृत्तिधर्म और पारलौकिक क्रियाएँ

इन्द्रियोंके वशमें होकर प्रवृत्तिशाली पुरुष लियों-में अवैच आसक्ति और भोजन पान आदिमें अतिशय प्रेम आदि क्रियाओंके द्वारा जीवन-यापन करते हैं। ये लोग केवल इस हश्यमान संसारमें ही आवद्ध नहीं रहते, अपितु वे स्वर्ग आदि नाना तरहके पारलौकिक सुखोंकी आशाकर उन सुखोंको देनेवाले देवताओंकी भी उपासना करते हैं। अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान कर वे स्वर्गकी अप्सराओंके साथ रमणकर सुखी होनेकी कामना करते हैं। वास्तवमें

प्रवृत्तिशील लोगोंकी आशाओंका अन्त नहीं है। पृथ्वीका राजत्व, स्वर्गका राज्य, ब्रह्मपद तथा शिवत्व आदि बहुतसे पदोंकी वासना करते हैं। इनके बहुतसे उदाहरण शास्त्रोंमें तथा इस प्रत्यक्ष विश्वमें पाये जाते हैं। किन्तु हमने उनका एक भी उदाहरण यहाँ नहीं रखा, क्योंकि पाठक उनसे अवश्य अवगत हैं—यह हमारा विश्वास है।

प्रवृत्तिमार्गका फल प्रत्यक्ष होता है—वह पशुओंमें भी लक्षित होता है।

प्रवृत्ति-पथ इन्द्रियगोचर है। उस पथका अवलम्बन करने वालोंको प्रत्यक्ष फल मिलता है—इसमें सन्देह नहीं। मनुष्य जातिको विचार-शक्ति है, अतएव ये लोग प्रवृत्ति मार्गके फलको आसानीसे समझ लेते हैं। किन्तु पशुओंकी बुद्धि आवद्ध रहने पर भी वे भी प्रवृत्तिके फलको जानते हैं। साही (विभर) नामक पशुका गृह निर्माण और बया नामक पक्षीका घोसला बनाना केवल प्रवृत्तिका ही फल है।

प्रवृत्तिमार्ग में इन्द्रियमुख

प्रवृत्ति-मार्गमें मनुष्यको बहुत ही सुख मिलता है—इसे अस्तीकार नहीं किया जा सकता। तोतली-कोंच चालने वाले वालक और बालिकाओंको गोदमें लेना, घृतसे बने पकवानोंका रसास्वादन, नुस्खेके समय रमणियोंका पद-चालन, और दूधके फेन जैसी सफेद शाय्यापर शयन, वायुयान, मोटर आदि द्वारा दूर देशोंमें भ्रमण—ये अतिशय आनन्दकर हैं, इसमें सन्देह ही क्या है? परमेश्वरने कृपाकर जीवों-के लिये इस जगतरूपी पान्थशाला को स्वूच सजाकर रखा है—अवश्य ऐसा ही विश्वास होता है। क्योंकि जिनके गठनके साथ उद्दिद् पदार्थका जो कोमल सम्बन्ध है, कण्ठिद्रोंके साथ गीत और वाणका जैसा प्रणय है, औँखोंका हश्य पदार्थ प्रकाश आदिसे जो सोहाद्रि है, वह परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिकी क्रियाशक्तिका फल है, इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा?

पार्थिव-सुख मात्र ही प्रवृत्ति- सुख है

संसारमें जितने प्रकारके सुख हैं, वे सभी प्रवृत्ति-सुख हैं। प्रवृत्ति-सुखके बशमें होकर मनुष्य दैहिक, मानसिक तथा सामाजिक उन्नतिके लिए सर्वदा व्यस्त रहते हैं। यदि यह प्रवृत्ति-सुख नहीं रहता तो सांसारिक अवस्थामें मनुष्यकी बहुत ही दुर्दशा होती। ये वैभवशाली नगर, जाल सा विछाह हुआ रेल पथ, सड़क, नौका, दुकान, मन्दिर आदि देखनेको नहीं मिलते। मानव-जाति पशुओंके समान वन-वनमें भ्रमण करते-करते नष्ट हो जाती। पृथ्वीका सौन्दर्य पृथ्वीमें ही अद्युष भावसे लुप्त रहता।

निवृत्ति-सुखका अस्तित्व और जीव-तत्त्व

उपरोक्त पार्थिव सुखके अतिरिक्त जीवके लिये और एक प्रकारका सुख है। कुछ गहरा विचार करने पर निवृत्ति-सुखके अस्तित्वकी उपलब्धिकी जा सकती है। निवृत्ति-सुख किसे कहते हैं, इसकी व्याख्या होनी चाहिये। उससे पहले यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक है कि जीव क्या है? इस मनुष्य शरीरमें त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और अस्थि—ये सात पदार्थ देखे जाते हैं, इनसे जीवका सम्बन्ध क्या है? त्वचा, हड्डी आदि पदार्थ भौतिक या प्राकृत हैं। किन्तु जीव इनसे पृथक् एक दूसरा पदार्थ है। इसके बहुतसे प्रमाण हैं। देहके विद्योग होने पर त्वचा, मज्जा आदि पदार्थ देहमें ही रहते हैं, किन्तु किसके अभावमें ये सभी शून्य मालूम पड़ते हैं—यह विचारणीय प्रश्न है। आँखें पथरा जाती हैं, हाथ-पैर स्पन्दनहीन हो जाते हैं, बन्धु-बान्धव हाय-हाय कर रोने-पीटने लगते हैं, किन्तु विछुड़ी हुई देह किसीको भी उत्तर नहीं देती। हाय, कितना गम्भीर विषय है। जो शरीर अपने सौन्दर्यसे कितनी रमणियों का मन द्वारा इरण करता था; जो आँखें अनुवीक्षण बन्त्र द्वारा अभी कल तक धुवतारा तथा अहन्यतीकी दूरियोंको नापती थीं, जो कान अभी कल ही मदमाती गजल और दुमरियों पर न्यौछावर हो रहे थे, जो मुजायें कल ही अन्दूक आदि अखोंसे सुसज्जित होकर स्वदेशकी रक्षा

और शत्रुओंका दलन करती थीं, जो पैर कुछ ही दिन हुए कारोधाम कर आये थे, आज वही शरीर—वे ही इन्द्रियाँ कुत्ते और शृगालोंके महोत्सवके उपकरण बने हुए हैं। इसे देख-सुनकर कौन बुद्धिमान् आत्मतत्त्व-की चिन्ता न करेगा? अत्यन्त विषयासक्त मनुष्य भी कुछ समयके लिये वैराग्यसूचक वचनोंको कहते हैं, परन्तु उनका चित्त अत्यन्त विच्छिन्न रहनेके कारण वे शीघ्र ही उन वातोंको भूल जाते हैं।

शरीर या प्राकृत पदार्थ जीवात्मा नहीं हैं

इन तत्त्वों आदि सात आवश्यकोंसे युक्त यह देह आत्मा नहीं है। जीव स्वयं आत्मतत्त्व और जीवात्माके नामसे विख्यात है। प्राकृत पदार्थोंके साथ जीवात्मा-का यह वर्तमान सम्बन्ध कभी नित्य नहीं हो सकता। प्राकृत पदार्थोंमें जो रस देखा जाता है वह बिल्कुल तुच्छ तथा अपूर्ण है। किसी भी प्राकृत पदार्थसे जीव नित्यानन्द लाभ नहीं कर सकता। प्राकृत पदार्थ स्वयं जड़ है तथा शरीरको उत्पन्न करने वाला है। किन्तु जीवात्मा देहसे अलग एक बिलक्षण वस्तु है।

नित्य-सुख ही जीवात्माका काम्य है; भौतिक देह में बद्ध हीना ही उसकी बद्धावस्था है

जीवात्मा सर्वदा स्वभावतः किसी अनिवृच्छनीय अखण्ड आनन्दकी कामना किया करता है। प्राकृत पदार्थोंसे उस आनन्दका आभास भी नहीं पाया जा सकता है। वैलिक भौतिक देहमें आवद्ध होनेमें जीवका कई प्रकारसे अकल्याण होता आया है। जीव प्रकृतिके आधीन होकर अपने स्वाधीनता-सुखको अनुभव करनेमें असमर्थ होता है। भूख, प्यास आदि इः प्रकारकी विपत्तियाँ जीवको क्लेश देती रहती हैं। भौतिक पदार्थोंके बीच जीवके प्रवेश करनेको बद्ध भाव कहा जाता है। सभी वैष्णव सम्प्रदायोंमें ऐसी अवस्थामें पड़े हुए जीवोंको बद्धजीव कहा गया है। अतएव मुक्तजीवोंका अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं।

बद्धजीवोंमें ही इन्द्रत्व और शिवत्व लाभ करनेकी जासना होती है। भौतिक पदार्थोंमें आवद्ध होकर जीव

सुखकी खोज करता है। उसी समय माया-प्रकृतिका प्रवृत्ति-मुख उसे अपना अतिथि बनाकर मुग्ध कर रखता है। ऐसा मुग्ध जीव भौतिक-सुख, कल्पित ब्रह्मात्म, शिवत्व अथवा इन्द्रत्वकी आशा कर चिरकाल तक दुःख ही दुःख भोग करता है। सोचता है कि ये ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ, तरह-तरहकी विलासकी सामग्री, सुन्दरी रुपी और पुत्र-कन्याकी प्राप्ति, राज्य-शासनको नियमित और नियंत्रित करना तथा विज्ञान का आविष्कार ही जीवनके उद्देश्य हैं। अहा ! कैसा कठिन भ्रम है। यदि वैज्ञानिक आविष्कारों तथा समस्त राजनियमोंका पालन करनेसे कमसे कम १५० वर्षों तक भी मृत्यु न होती तब अवश्य ही कुछ अंरों तक उनकी जीव रक्षीकार की जा सकती थी। नास्तिक वैज्ञानिक तथा भक्तिहीन तार्किक इस संसारकी उन्नति द्वारा जीवकी वृद्धिकी तथा अनन्त उन्नतिकी कल्पना करते हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकोंकी मानव कल्याणकी चिन्ता व्यर्थ है

अहा ! उन लोगोंका कितना घोरतम भ्रम है। प्राचीनकालसे ही भौतिक विज्ञानकी उत्तरोत्तर उन्नति होती आरही है। ग्रीसदेशके थेलिस नामक पण्डितने जिस समय जलसे सभी पदार्थोंकी उत्पत्तिकी वात घतलायी, उस समय लोगोंने विज्ञानसे अनेक प्रकार की आशाएँ की थीं। वेकन, न्यूटन, लोमार्क गोयटी आदि मनोधियोंने नाना प्रकारके तत्त्वोंकी छानबीन करके भी जीवोंका कोई प्रकृत कल्याण न कर सके। चुम्बक, रेल, और बन्दूकके अतिरिक्तमी अनेक शिल्पोंके आविष्कार हुए हैं, किन्तु उनके द्वारा मानव जातिका सांसारिक सुख क्या बढ़ सका है? हमारी ऐसी युक्तियोंसे नवीन सम्प्रदायको सन्तोष नहीं होगा क्योंकि वे वाल्यकालसे ही ऐसे कुसंस्कारोंके दास हो गये हैं। रेल और जहाज आदिके द्वारा वाणिज्य आदिकी जो वृद्धत्तर उन्नति हुई है, उसका असल कारण वैज्ञानिक आविष्कार ही है—लोगोंका यह बढ़ विश्वास है, क्योंकि इसे वे

वचनसे ही सुनते आ रहे हैं। किन्तु निरपेक्ष होकर विचार करनेसे पता चलता है कि उनके द्वारा जैसे कई बातोंमें सुविधा हुई है, वैसे ही कई बातोंमें असुविधाओंकी सृष्टि भी हुई है।

आशा ही दुखःका कारण है।

'योऽमें ही सन्तोष' की वात दी आजकल उठ गयी है। अब पीराणिह रूपमें ही उसका उल्लेख किया जाता है। सन्तोष ही जीवका अवूल्य रत्न है, —इसे कौन नहीं खोकार करेगा? आशा का अन्त नहीं। आशा मत हविनाली तरह इन्द्रत को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होती। आशा जीवका प्रवान शब्द है। नेपोलियन बोनापार्टके आधुनिक इतिहास तथा रावण और दुर्योधनके पीराणिह वृतान्तों पर मनन करनेसे इस संसारमें और किसी आशाकी आशा नहीं रह जाती। इस समय सन्तोषके अभावमें आशाकी जितनी वृद्धि हुई है उनकी थोड़ीभी भी आत्माचता करनेसे निस्सन्देह यह पता चल जायेगा कि प्रवृत्ति सार्गावलम्बी व्यक्तियोंकी उन्नतिके सम्बन्धमें जो धारणा है, वह बहुत ही हेतु है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। आशा ही समस्त अन्योंकी जड़ है। श्रीमद्भागवतमें इसकी पुष्टिकी गयी है—

आशा हि परम दुःखं नैराश्यं परमं सुखं ।

यथा संचिद्व्य कान्ताशां सुखं सुख्वाप पिङ्गला ॥

(श्रीमद्भा० ११।८।४४)

[सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिङ्गला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्वाग दी, तभी वह सुखसे सो सकी।]

यद्यपि पदार्थ विज्ञानकी अनुपयोगिता हम स्वीकार नहीं करते तथापि उसकी उन्नतिसे जीवोंको प्रत्यक्ष लाभ क्या हुआ है—दिल्लाई नहीं पहुँचा बड़े-बड़े विचारक इस विषय पर गम्भीर चिन्ता करते आये हैं। एक जर्मन महापुरुषने अनेक तत्त्वविद्याओंका आविष्कार कर अपनेको कई प्रकार की योजनाओंका सृष्टिकर्ता मानकर

एक दिन संध्या समय अपने पुस्तकालय में बैठकर कहा था—‘हाय ! मैंने समस्त पदार्थ-विद्यामें नये-नये सत्यों का आविष्कार किया है, यह बात तो प्रसिद्ध हो गयी है : किन्तु इससे मैंने क्या सीखा ? एक साधारण मुख्य और मुझमें क्या अन्तर है ?’ किर बहुत सोच समझ कर कहा—‘आज मुझे विशाल ज्ञान प्राप्त हुआ है जिससे आज यह सत्य बात जान सका हूँ कि किसी भी एक विषयका सत्य-स्वरूप मैं नहीं जानता ।’ यह घटना ‘फॉस्ट’ नामक एक प्रन्थमें दी दी गयी है । सुइडेनवर्ग नामक एक महापुरुष भी इसी सिद्धान्तपर पहुँचे थे । नवीन-सम्प्रदायके लोगों को विदेशी प्रन्थ तथा विद्वतापर अधिक विश्वास होता है, इसीलिये मैंने यहाँ दूसरे देशोंके उदाहरण ही पेश किये हैं । हमारे देशके शास्त्रोंमें इस विषयके अनेक प्रमाण हैं । केवल एक प्रमाण यहाँ उछूँत किया जा रहा है । श्रीमद्भागवतके द्वितीय अध्यायमें श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—

शावदस्य हि ब्रह्मण् एष पन्था,
यज्ञामभिर्ध्यायति धीरपायैः ।
परिभ्रमस्तत्र न विन्दते ऽर्थान् ,
मायामये वासनया शयानः ॥

(श्रीमद्भा० राशा०)

श्रीधरस्यामीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है—‘शावदं शात्रमयं ब्रह्म वेदस्तस्य एष पन्थः कर्मफल-वेत्यन प्रकारः । कोऽसौ ? अपार्थर्थशून्यैरेव स्वर्गी-दिनामभिः साधकस्य धीर्ध्यायति तत्तदिच्छां करोतीति यत् । अपार्थत्वमेवाह तत्र मायामये पथि सुखमिति वासनया शयानः स्वप्नान् पश्यन्नीव भरिभ्रमज्ञार्थानि विन्दति, तत्त्वोक्तं प्राप्तेऽपि निरवर्द्धं सुखं न लभत इत्यर्थः ।’

—[शब्द-ब्रह्मरूप वेदोंका पथ अर्थात् उनकी वर्णन शैली ही इस प्रकार की है कि वह स्वर्ग आदि निरर्थक नामोंकी सृष्टिकर लोगोंकी बुद्धिको उसमें फँसा देती है । किन्तु सोया हुआ पुरुष जिस तरह स्वप्नमें सुखका दर्शन मात्र करता है, वास्तवमें उसका भोग नहीं कर सकता है, उसी प्रकार जीव सुखकी वासनासे मायामय लोकोंमें भटकने लगता है, किन्तु कहीं भी उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं होती ।]

निवृत्तिमार्गं द्वारा ही मुक्त मिल सकती है—
प्रवृत्तिमार्गं द्वारा नहीं ।

किन्तु जीवोंके लिए नित्य सुख क्या है ?—इस विषयपर विचार करनेसे प्रतीत होता है कि स्वाधीनता ही जीवोंके लिए नित्य-सुख है । मायाके अधीन होनेसे ही जीवोंका दुःख उदय हुआ है । इस माया प्रकृतिको पारकर जीवके स्व-स्वरूपकी प्राप्तिका नाम सुकिं है । इसीको निवृत्ति-सुख कहते हैं । प्रवृत्ति-मार्गमें भटकने वाले पुरुषोंको अपने कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है; अतएव उनकी मायासे मुक्त होनकी संभावना नहीं है । प्रवृत्ति-मार्गकी उन्नति ही उस मार्गसे चलने वालोंको प्राप्त होती है । किसी कार्यका विपरीत फल नहीं होता; सजातीय फल ही प्राप्त हुआ करता है । अतएव प्रवृत्ति कभी निवृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकती । हाँ, यदि सौभाग्यसे किसी प्रवृत्ति-मार्गके पथिकको प्रवृत्तिके प्रति अप्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय तो उसे शुभ फलकी प्राप्ति हो भी जाती है । ऐसे बहुतसे लोग मायासे मुक्त हुए हैं ।

(क्रमशः)

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

मायावादकी जीवनी

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या १०, पृष्ठ २२६ से आगे]

आधुनिक मतानुसार कालका विभाग

पाश्चात्य विचारोंसे अथवा इनके मतवादसे अनुप्राणित भारतीय शिक्षित समाज और इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानके ऊपर निर्भर करने वाले ज्योतिषियोंने सत्य, त्रैता और द्वापर युगोंकी स्थितिकाल और वर्तमान कलियुगके बीते हुए कालका निर्णय किया है। उनमें किसी किसीके मतानुसार सत्य युगसे लेकर आजतक सब मिलाकर लगभग ७५०० वर्ष बीते हैं। उपर्युक्त मतवादके भीतर प्रवेश न कर पाश्चात्य पण्डितों तथा भारतीय ज्योतिषियोंके विचारोंका कुछ कुछ सामंजस्य रखने हुए विचार करनेसे, असुरोंको विनाश और मोहित करनेके लिए भगवान्‌के आविर्भावोंकी कालगत एक धारा लद्यकी जाती है। यहाँ उसी धाराका एक साधारण विचार दिखलाया जा रहा है। सत्ययुगके लगभग ५०० वर्ष बीतने पर भगवान्‌शेषावतार और हंसावतार समूहोंका आविर्भाव हुआ। हंसावतारके १००० वर्ष बाद त्रेतायुगमें श्रीरामचन्द्रके आविर्भावका समय है। श्रीरामचन्द्रके आविर्भावके १००० वर्षके भीतर द्वापरके शेषभागमें श्रीकृष्ण और बलरामका आविर्भाव काल है। अतः द्वापरके शेषतक न्यूनाधिक २५०० वर्ष बीतने पर कलियुग आरंभ हुआ है। श्रीकृष्णके तिरोभावके १००० वर्षके बाद अर्थात् “कलौ सम्प्राप्ते” अर्थात् कलियुगके सम्पूर्णरूपसे व्यापक होनेपर विष्णुबुद्ध या आदि बुद्धका आविर्भाव हुआ। उनके १००० वर्ष बाद शाक्यसिंह बुद्धका जन्म हुआ था। इनके १००० वर्ष बाद लगभग ५०० ई० में आचार्य शंकरका आविर्भाव हुआ था। इनके १००० वर्ष बाद लगभग १५०० ई० में (१४८६ ई० में) समस्त अवतारोंके मूल पुरुष स्वयं भगवान्-

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका प्रकटकाल है। श्रीचैतन्यदेवके लीला संवरण करनेके बाद आजतक न्यूनाधिक ४७० वर्ष बीत चले हैं।

अब देखा जाता है कि हंसावतारसे कृष्ण बलराम तक २००० वर्षका अन्तर है। कृष्णसे शाक्यसिंह बुद्ध तक भी २००० वर्षका अन्तर है। और शाक्यसिंह बुद्धसे चैतन्यदेव तक भी बही २००० वर्षका ही अन्तर है। द्वापर युगके कृष्णावतार तक २००० वर्षकी मायावादकी जीवनी पाठकोंके निकट निवेदन की गई है। वर्तमान युगके पूर्व २००० वर्ष अर्थात् शाक्यसिंह बुद्धके आविर्भावके पूर्वतक मायावादका प्रताप परिलक्षित नहीं होता। कलियुग आरंभ होनेके पूर्व ही श्रीकृष्ण और बलराम द्वारा मायावादियोंके विनाश किये जानेके कारण और उनके धारा आदि बुद्ध द्वारा असुर मोहनलीला प्रकट करनेके कारण मायावादी लोग इन २००० वर्षोंके भीतर वैष्णवोंपर किसी तरहका अत्याचार करनेमें समर्थ न हो सके।

शाक्यसिंह

भगवान्‌की लीला पुष्टिके लिये आदि बुद्ध अर्थात् नवम अवतार बुद्धके शक्त्यावेशरूपमें ‘शाक्यसिंह’ बुद्धने इंसापूर्व लगभग ५०० वर्ष जन्म ग्रहण किया था। किसी किसीके मतसे इनका आविर्भाव काल इंसापूर्व ४७७ वर्ष है और किसी किसीके मतसे इंसापूर्व ४५० वर्ष है। इसी समयसे मायावादकी विचार धारा अनेक दिनोंका बाँध तोड़कर अत्यन्त प्रबल वेगसे प्रवाहित होना आरंभ कर दी थी। गौतमबुद्धके आविर्भावसे लेकर शंकराचार्यके आविर्भाव काल तक १००० वर्ष यह विचार-धारा नाना प्रकार आरकेकारों-

को धारण कर इठलाती फिरती थी। आचार्यशंकरका मायावाद बौद्धवादका नामान्तर मात्र है—इसे हमने पहले ही दिखलाया है। इसके सम्बन्धमें नैष्ठिक अद्वैतवादी श्रीयुत राजेन्द्रनाथ घोषने 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थकी भूमिकाके १० वें पृष्ठमें जो लिखा है, पुनः यहाँ उसका उल्लेख कर रहा हूँ—

"बुद्धदेवके लगभग ५०० वर्ष बाद तक अर्थात् ईसाके जन्मके पहले तक अर्थात् विक्रमादित्यके (ईसा पूर्व ४७ वर्ष) आविर्भाव तक अद्वैतमत बौद्धमतके माध्यममें ही प्रवल भावसे प्रचारित होता रहा।"

उनके विचारसे विक्रमादित्यके बाद ५०० वर्ष तक अर्थात् आचार्य शंकरके आविर्भावके पहले तक शंकरके अद्वैतमतका भार बौद्धोंके हाथोंमें न्यून था। उन्होंने उक्त भूमिकाके ६ वें पृष्ठमें लिखा है—

"इस प्रकार इस समय अद्वैत विचार-धारा बौद्ध लोगोंके भीतर होकर प्रवल वेग से वह रही थी।"

(घोष महोदयके उल्लिखित कथनसे हम निःसंदेह हम तथ्य तक पहुँच सके हैं किye बौद्ध-मायावादी हैं। हमारी समझसे यही उनका असली परिचय है। राजेन बाबू जो भीतर ही भीतर एक कठूर बौद्ध थे— उनके इस कथन द्वारा रंगे हाथ पकड़े न जानेसे सर्वसाधारणको इन्हें पहचाननेके लिए बहुत ही कठिनाइयाँ भेजनी पड़ती।) यहाँ मायावादकी जीवनीकी विभिन्न मूर्तियोंका कुछ कुछ परिचय न देनेसे मायावादकी जीवनीकी अंग-हानि होगी, जानकर नीचे उनका आभास दिया जा रहा है।

दर्शन सप्तक

चार्वाकका नास्तिक्य, जिनका जैन या अर्हत, कणादका वैशेषिक, गौतमका न्याय, कपिलका सांख्य, पातञ्जलिका योग और जैमिनीका मीमांसा—इन सात प्रकारकी मूर्तियाँ धारण कर मायावाद अपनी जपलपाती हुई जीभको विस्तार कर अचिन्त्य-द्वैत-द्वैत-वैष्णवसिद्धान्तको निगल जानेके लिए उछल-कूद मचा रहा था। इस दर्शन सप्तककी प्रत्येक मूर्ति ही मायावादी है। इसका कारण यह है कि प्रकृतिको

ही माया कहते हैं और प्राकृत मायिक विषयोंको ही लेहर जिनके बाद-विवाद और दर्शन शाख परिपुष्ट हैं, वे मायावादी कहे जाते हैं। अतः उपरोक्त सभी दार्शनिक मत मायावादी हैं। उक्त दर्शनसमूह बुद्ध-देव और आचार्य शंकरके मध्यवर्ती कालमें अत्यन्त प्रबल हो उठे। उस समय कोई किसीकी श्रीबृद्धिको सहन न कर सकनेके कारण परस्पर तर्क-वितर्क और युद्ध द्वारा अपनी-अपनी शक्तिको त्तीणकर दिया। इसके फलस्वरूप सौभाग्यवश चार्वाकका नास्तिक दर्शन सृत्युके मुखमें पतित हुआ। आर्हत या जैन लोग भी प्रायः उसी प्रकार अस्तित्वहीन हो पड़े। आचार्य शंकर मायावादकी ऐसी विभिन्न प्रकारकी मूर्तियोंको देखकर काँप उठे और परस्परके गृहविवाद-को मिटाकर एक समझौता करनेके लिए एक उपाय सोचा। उन्होंने उक्त प्रत्येक मतोंसे कुछ कुछ युक्तियाँ ग्रहण कर तथा उनके कियदंशका परित्याग कर उनमें परस्पर सामंजस्य करनेके बहाने अपने मतवादकी पुष्टि की। असलमें सूक्ष्मरूपसे विचार कर देखनेसे स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि उपरोक्त सातों दर्शन, बुद्ध-का शून्यवाद और शंकरका ब्रह्मवाद सब मिलाकर कुल नवों दर्शन मायावादके अन्तर्गत हैं। पहले कहे गये सातों दर्शनोंको मायावादी कहनेका कारण प्रदर्शन करना वर्तमान लेखमें असंभव होनेके कारण उस विषयमें निस्तव्य रहा। आवश्यक होनेपर उस विषयपर पृथक् लेखमें क्रमशः आलोचना की जायगी।

भर्तृहरि

बील शंकरके आविर्भावके लगभग १५० वर्ष पहले भर्तृहरिने एक उपनिषद् सम्प्रदायकी सृष्टि कर मायावादकी एक नयी धारा इस जगत्में प्रवाहित की है। उन्होंने बौद्ध-युक्तियोंका अवलम्बन कर उपनिषदोंके सिद्धान्तोंको स्थापन करके उपनिषद् सम्प्रदायकी सृष्टि की थी तथा हिन्दू धर्मके नामसे बौद्ध-धर्मको जगत्‌में चालू करनेके लिए बहुत ही चेष्टा की थी। भर्तृहरि बौद्ध-अमरसिंहके समसामयिक थे बौद्ध-शब्दर स्वामीकी ज्ञाताणी खीके गर्भसे

इनका जन्म हुआ था । अमरसिंह भी उक्त शब्द स्वामीकी शूद्रा स्त्रीके धर्मसे पैदा हुए थे—हमने इसे पहले ही कहा है । अतः दोनों परम्पर भाई भाई हैं । अमरसिंह बौद्ध धर्मावलम्बी थे—इसमें कोई भी मतभेद नहीं है । हो सकता है आचार्यशंकर भर्तु-

हरिके ब्रन्थ आदिसे अपने मायावाद अर्थात् प्रचलित बौद्ध मतका प्रचार करनेके लिए अपने अनुकूल प्रमाणादि संग्रह किये होंगे । भर्तु हरिका उपनिषद्-सम्प्रदाय बौद्ध-मायावादका ही प्रचारक था—इसमें संदेहकी तरिक भी गुंजाइश नहीं है । (क्रमशः)

गीताकी वाणी

द्वितीय आध्यायके देहात्म-तत्त्वका विचार

भौतिक शरीरमें आत्मबुद्धि करने वाला जीव कुलधर्मकी दुहाई देकर आत्म-धर्मका साधन करनेसे दूर रहनेकी चेष्टा करता है । इसीलिए वह कुलधर्म-की नित्यता स्थापन करनेके लिए अनेकानेक युक्तियों-को पेश करता है । अर्जुन भी उन्हीं युक्तियोंको भगवान् कृष्णचन्द्रके सामने रखता है । किन्तु भगवान् कृष्णचन्द्र उसकी सभी युक्तियोंका खण्डनकर कुलधर्मको अनित्य स्थापन करते हैं,—‘अर्जुन, तुमने स्वजन मानकर जिनके उपर अख्लाधात् न करनेकी ठानी है, वे आततायी हैं, उनको वध करनेसे तनिक भी पाप नहीं लगता:—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षड्ते आततायिनः ॥
आततायिनमायान्तं हन्त्यादेवाविचारयन् ।

नाततायि वधोदोपो हन्तुर्भवति भारत ॥

आग लगाने वाले, विष देने वाले, किसीका वध करनेके लिए शस्त्रधारी, तथा जमीन, धन अथवा स्त्रीका अपहरण करने वालेको आततायी कहते हैं । यिना विचार किए ही पेसे लोगोंका वध करना उचित है । इनका वध करने वालेको तनिक भी दोष या पाप स्पर्श नहीं करता । पाण्डवोंके चिरशत्रु कौरवोंमें आततायीके ये छब्बों लक्षण बत्तमान हैं । इसलिये वे आततायी हैं ।

भगवान्का ऐसा विचार सुनकर अर्जुन फिर कहते हैं,—“अर्थशास्त्रात्तुवलवद्धर्मशास्त्रम्” । अर्थात् अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्रकी आज्ञा तो विशेष

बलवान् होती है । आपके अर्थशास्त्रकी युक्तिसे किसी आततायीका वध करनेसे कोई दोष नहीं होता, यदि ठीक है । परन्तु दूसरी तरफ धर्मशास्त्रकी यह स्पष्ट आज्ञा है कि ‘मा हिसात् सर्वभूतानि’ अर्थात् किसी प्राणीकी हिसा न करो । अतएव कौरवों या उनके पक्ष प्रहरण करने वालोंका वध करना अनुचित जान पड़ता है । विशेषतः उन लोगोंमें इसारे परम पूज्य गुरुदोषण, और पितामह भीष्मका वध करना नितांत अनुचित जान पड़ता है । ऐसी स्थितिमें युद्ध न कर भिज्ञा वृत्तिका अवलम्बन करना ही भेरे लिए उचित जान पड़ता है । इसके द्वारा लौकिक अपयश (अर्जुन अपना प्राण बचानेके लिए युद्धसे बिमुख हो गया) होनेपर भी पारलौकिक कल्याण तो निश्चित है ।

इस प्रकार अर्जुनकी उक्तियोंको सुनकर भगवान्ने कहा—‘अर्जुन ! ज्ञात्रियस्वभाव प्राप्त तुम्हारा ज्ञात्रधर्म—युद्ध करना ही श्रेयस्कर है । विशेषतः शत्रुओंको युद्धके लिए आह्वान कर फिर उससे मुख मोड़ लेनेसे ज्ञात्रिय धर्मकी हानि होती है—

‘आहूतो न निवर्त्तते द्युतादपि रणादपि ।’

दूसरी बात जो तुम भिज्ञावृत्तिका अवलम्बन करना श्रेयस्कर समझते हो, वह भी तुम्हारी भूल है । क्योंकि भिज्ञावृत्ति ब्राह्मणोचित कर्म है । अगर तुम ऐसा करोगे तो वह कर्म तुम्हारे कुलधर्मके विरुद्ध होगा ।

अर्जुन अब निरुत्तर हो गए । फिर भी उनका संदेह न मिटा । बड़ी पेचीली समस्या उनके सामने

थी—युद्ध करना अेयस्तर है अथवा युद्ध न करना। इसे वे हल करनेमें असमर्थ थे। गुरुद्रोह आदि करने पर भी युद्धमें उनकी जय होगी या पराजय—इसका कोई निश्चय नहीं। अतः धर्म-विमूढ़ चित्त तथा कार्यशय दोपसे आच्छादित स्वभाव वाले अर्जुन अपना यथार्थ कर्त्तव्य निर्णय करनेमें असमर्थ होकर भगवान्के शरणापन्न हुए। भगवान्ने अर्जुनको पूर्ण शरणागत जानकर देह और आत्म-तत्त्वके सम्बन्धमें युक्तिपूर्ण उपदेश प्रदान किये।

‘यो वा पतद्वरं गार्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपण इति श्रवणात् अवृद्धवित्त्वं’ अर्थात् जो कोई अक्षर ब्रह्मको धिना जाने इस लोकसे मर कर चला जाता है, वह कृपण है। कृपण होनेके भावको कार्यशय अथवा अवृद्धाङ्गता कहते हैं। जिनको ब्रह्म-तत्त्वका ज्ञान नहीं, वे धर्मलम्बुद्ध व्यक्ति हैं। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका विचार बड़ा ही प्रीढ़ और प्राञ्जल है—

‘विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमाच्छलः।

अधर्म शाखाः पञ्चमो धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्वजेत्॥

धर्मवादो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः।

उपधर्मस्तु पापण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः॥

यस्त्विच्छया कृतः पुं भिराभासो द्युभ्रामात् पृथक्।

स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये॥

(श्रीमद्भागवत् १०।१४।१२-१४)

अधर्मकी पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, उपधर्म, छलधर्म और आभास धर्म। धर्मज्ञ पुरुष अधर्मके समान ही इनका भी परित्याग करते हैं। जिस कार्यको धर्मबुद्धिसे करनेपर भी अपने धर्ममें बाधा पड़े, वह विधर्म है। दूसरी तरफ आत्मधर्मका नाम ही स्वधर्म है। ‘स्य’ शब्दका अर्थ आत्मा है। अतएव आत्मधर्म ही स्वधर्म है। इसी आत्म-धर्मको सनातन धर्म, भागवत धर्म, वैष्णव धर्म या नित्य-धर्म भी कहते हैं। शरीर और घर आदिमें आसक्त व्यक्ति आत्मधर्मका पालन करनेमें विमुख रहता है। भगवान् श्रीहृषीतन्य देवने अपनी माताके प्रति उपदेश किया था—‘माँ! भगवान्का भजन करना ही जीव-

मात्रका धर्म है। जब जीव माताके गर्भमें पड़ा पड़ा वहाँके असहनीय कष्टोंसे छटपटाने लगता है, उस समय अपना कुछ भी दूसरा सहारा न पास्त कहणा-बरुणालय भगवान्को पुकारने लगता है। हे भगवन्! मैंने तेरा भजन छोड़कर पुत्र और कन्या आदिमें आसक्त होकर उनके प्रतिपालन रूप विधर्ममें ही सर्वदा लगा रहा। अब इस असमयमें वे न जाने कहाँ हैं।’ अतएव भगवान्का भजन परित्याग कर केवल संसारका प्रतिपालन करना विधर्मके अन्तर्गत है। किसी अन्यके द्वारा अन्यके लिए उपदेश किया हुआ धर्म—परधर्म है। आत्मधर्मके अतिरिक्त दैहिक धर्म आदिको परधर्म कहते हैं। भगवान् कृष्णने भी कहा है—

‘अे यान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मो निधनं अयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३।३५)

जीवोंका वर्णाश्रमोचित धर्म ही प्रथम अवस्थामें स्वधर्म कहा जाता है। उस समय अपने वर्णाश्रमोचित धर्मका अनुष्ठान न कर अन्य धर्मोंको पालन करना अविहित है। द्रोण आदिका ज्ञात्रधर्म अवलम्बन करना नितांत धर्मसंगत है। जिस समय जीव आत्म-धर्म अर्थात् भक्ति पथपर चलनेके लिए हृष्ट संकल्प-कर लेता है, उस समय वर्णाश्रम धर्म भी उनके लिए परधर्म हो जाता है। तब केवल निर्गुणभक्ति ही उसका एक मात्र स्वधर्म हो जाता है।

पाखण्डधर्म अथवा दंभ प्रकाश करने वाला धर्म—उपधर्म है। जटा रखना, भस्म रमाना आदिसे युक्तधर्म पाखण्डधर्म हैं और दंभ प्रकाश कर अपनेको धार्मिक रूपमें प्रचार करनेकी चेष्टाको दंभधर्म कहते हैं। ये दोनों ही उपधर्म हैं। शास्त्रके वचनोंका दूसरे प्रकारका अर्थवर जिस धर्मका प्रचार किया जाता है—वह छलधर्म है। उदाहरणके लिए—‘दशावरान् विप्रान् भोजयेत्।’ यहाँ ‘दशावरान्’ शब्दमें बहुत्वाहि समास न कर तत्पुरुष समास करनेसे छलधर्म हो जाता है। दस अवर हैं जिसमें है, वह दशावर है अर्थात् कमसे कम दस ब्राह्मणोंको भोजन

करना चाहिए। ऐसा अर्थ न कर दससे अबर अर्थात् ६ से १ संख्या तक, ऐसा अर्थ करनेसे छल करना हो जाता है।

जीव अपने आश्रमके विपरीत जिन स्वयं कपोलकलिपत विचारोंको धर्म मानता है—उसे आभास धर्म कहते हैं। वैसे धर्मोंका आचरण करनेसे तनिक भी कल्याणकी संभावना नहीं। इसीलिए इन पाँचोंका परित्याग कर तत्त्वविद् पुरुषोंके शरणागत होनेसे प्रकृत धर्मका अनुसंधान पाया जा सकता है। अर्जुन जभी अपने स्वतंत्र विचारोंका परित्याग कर भगवान्के शरणागत हो गए, श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें आत्म-तत्त्वका उपदेश करने लगे।

कैसे व्यक्ति भगवान्के अथवा तत्त्वज्ञ गुरुके शरणागत होते हैं—अर्जुनने हमारे सामने इसीका महनीय आदर्श रखा है। जैसे—‘एवंवित् शान्त-दान्त-उपरतस्तितिज्ञः अद्वान्वितो भूत्वा आत्मन्येवात्मनं पश्येत्’; अर्थात् शान्त, दान्त, उपरत, तितिज्ञ और अद्वान् होकर आत्मामें आत्मदर्शन करना होता है। ‘किं नो राज्येन गोविन्दं’ (१३२) शोकमें उनके शान्त और दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय होनेका, ‘अपि त्रैलोक्यं राज्यस्य’ (१३५) शोकमें उपरति अर्थात् वैराग्यका, ‘श्रेयो भोक्तुं भैद्रयम्’ (२५) शोकमें तितिज्ञः अर्थात् दुन्दु सहिष्णुताका और ‘शाधिमां त्वां प्रपञ्चम्’ (२७) द्वारा श्रीगुरुदेवके वचनोंमें हड़ विश्वास—अद्वान्का परिचय मिलता है। अतएव जीव अपना स्वतंत्र विचार छोड़कर भगवत् तत्त्वविद् साधुओंके शरणागत होवे—यही अर्जुनके चरित्रका महान आदर्श है।

जीव मायाद्वारा मुग्ध होकर इस रक्त और मांसके शरीरमें आत्मबुद्धि करता है तथा शरीर और स्वजनोंमें अत्यधिक ममता होनेके कारण उनकी बुद्धि विकृत हो पड़ती है। ऐसी अवस्थामें वह भगवान् या उनके प्रिय भक्तोंके सदुपदेशोंको ब्रह्म करनेमें अनिच्छुक हो पड़ता है। वह उन उपदेशोंको अप्राप्य करनेके लिये नाना प्रकारकी युक्तियाँ देता है। वैसी युक्तियाँ अनार्योचित, परलोक विरोधी और

अपवश कैलानेवाली होती हैं। भगवान् या भगवत्-तत्वके जाननेवाले आचार्यके चरणोंमें शरणागत होनेसे जीवका वैसा भ्रम दूर हो जाता है।

भगवान् कहते हैं—देह अनित्य है तथा आत्मा नित्य है। आत्माके साथ इस भौतिक देहका संयोग होना—जन्म है तथा आत्माके देहत्यागका नाम मृत्यु है। जीव आनादि कालसे कर्मोंके अधीन होकर नाना प्रकारके देहोंको प्राप्त करता है। पुराने वस्त्रोंको त्यागकर नवीन वस्त्रोंको धारण करनेके समान ही आत्माका देह धारण और देह त्याग हुआ करता है। इस देहकी अवस्था छः प्रकारकी होती है—(१) जन्म (२) अस्तित्व, (३) बुद्धि, (४) परिणाम, (५) ज्य और (६) विनाश। भौतिक देहकी अवस्थामें तरह तरहके परिवर्तन होनेपर भी देही आत्माका कभी भी परिवर्तन नहीं होता। इस आत्माको शस्त्रोंसे काटा नहीं जा सकता, आगमें जलाया नहीं जा सकता, जलसे गलाया नहीं जा सकता अथवा बायु द्वारा इसे सुखाया भी नहीं जा सकता। जड़ नहीं होनेके कारण इन्द्रियाँ उसे प्रहरण नहीं कर सकती। इस आत्माके विषयमें बहुतोंका अज्ञान रहनेसे उनको आत्मसम्बन्धी वातें आश्चर्यजनक प्रतीत होती हैं। देह परिवर्तन होने पर अर्थात् कीमार अवस्थासे युवावस्था या युवावस्था से बुढ़ाया आनेपर जैसे पूर्व अवस्थाके लिए शोक नहीं होता, वैसे ही देहका नाश हो जानेपर पुनः नयी देह पाकर पुरानी देहके लिए शोक करना कर्त्तव्य नहीं है। तुम्हारे कुलधर्मके विचारसे युद्ध करना ही श्रेय है। युद्धमें जय और पराजयके प्रतिलक्ष्य न कर कर्त्तव्यके विचारसे युद्ध करनेसे पाप नहीं लगता। इस प्रकार बुद्धियोगका आश्रय कर युद्ध आदि कर्मोंका आचरण करनेसे कोई दांप नहीं होता। इसी बुद्धिका नाम व्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका बुद्धि है। आत्म विचारमें प्रतिष्ठित होकर कर्त्तव्य कर्मोंके आचरण करनेका नाम ही व्यवसायात्मिका बुद्धि है। जिनकी बुद्धि अस्थिर है, उनमें आत्मज्ञानका अभाव समझना चाहिए। वे तरह-तरहकी कामनाओंकी पूर्तिके लिए ही कर्म करते हैं। ऐहिक और पारलोकिक भोग अर्थात् इस लोकमें रहकर तरह-तरहके विषय भोगोंकी कामना

ओंके वशीभूत होकर कर्म करते हैं तथा मरनेपर भी स्वर्ग आदि लोकोंमें जाकर और भी अधिक सुख भोगकी बांद्राएँ करते हैं। वे आत्माकी तनिक भी खोज नहीं रखते। उनकी बुद्धि केवल स्वर्ग तक ही सीमित रहती है। अतः स्वर्ग-प्राप्तिमें सहायक क्रियाओंमें ही उनकी अधिक निष्ठा होती है। तथा भोग-ऐश्वर्योंके प्राप्त कराने वाले साधनोंकी सर्वदा चर्चा करनेको ही वे परम पुरुषार्थ मानते हैं।

न्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका बुद्धिवाला पुरुष ही आत्मधर्मका पालन करनेमें समर्थ हो सकता है। भगवान् इस आत्मधर्मकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—‘इस योगका आरंभ कर समाप्त नहीं करने पर भी आरंभ किए हुए कार्यका न तो नाश होता है और न इसके लिए प्रत्यवाय होता है। इस धर्मका थोड़ासा भी अंश आचरणकारीको बड़े भारी भयसे रक्षा कर लेता है। उदाहरणके लिए अजामिलका चरित्र सामने चमक रहा है। कर्म-कारण्डमें मन्त्रोंके उच्चारणमें स्वर आदिकी गड़वड़ी हो जानेसे अथवा कर्मकारण द्वारा मन्त्रहीन होनेपर उसमें प्रत्यवाय होता है जिसके फलस्वरूप बहुत बड़ा अनर्थ पैदा हो जाता है। किन्तु आत्म धर्ममें—

‘मूर्खों वदति विद्याय धीरो वदति विद्यावे।
उभयोस्तु समं पुण्यं भावप्राही जनार्दन ॥’

अर्थात् मूर्ख व्यक्ति द्वारा व्याकरणसे भूल ‘विद्याय’ शब्द और परिणत द्वारा शुद्ध उच्चारण किया हुआ ‘विद्यावे’ शब्द—दोनों ही समान पुण्यप्रद हैं। क्योंकि भगवान् भावप्राही हैं। वे साधकमें भक्तिभावका ही लक्ष्य करते हैं। भक्तिका अभाव होनेपर वे उस तरफ आँखे उठा कर देखते भी नहीं। किन्तु भक्तिभावसे समर्पण किये हुए पत्ते, पुण्य और फल भी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हैं।

राजपिं भरत अपने विराट ऐश्वर्य आदिका परित्यागकर भगवान्का भजन करनेके लिए बनमें चले गए। वहाँ कुछ दिनों तक भजन करते-करते एक हरिणके बच्चेपर आसक्त हो गए। इसी बीच उनके सूत्युका समय भी उपस्थित हुआ। वे भगवद् भजन छोड़ कर मृग-शावककी चिन्ता करते-करते मर गए। ऐसा होनेपर भी पहले जन्ममें उनके द्वारा किया हुआ भजन नष्ट नहीं हुआ। अगले जन्ममें उसी पूर्व जन्मके किए हुए साधनने उन्हें भगवद् भजनके लिए प्रेरणा दी—उन्हें भगवद् भजनके मार्गमें अप्रसर कराया। ऐसा वयों हुआ—क्योंकि इस आत्मधर्ममें प्रत्यवाय नहीं है।

—विद्यरडीस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

विनय

मेरे मन भावन के भाजन ही भव्य तुम,
मेरे जग जीवन के जीवन निधान ही।
मेरी कृपि आस के पूरक परिजन्य तुम,
मेरे चित चकोर के कलित सितभान ही।
'शंकर' स्वरूप तेरी मेरे मन निरत वसे,
भव से निराले गुणखान छविखान ही।
जैसी वरसाई वरसाओगे दया की वृष्टि,
धन्य धन्य गिरिघर गिर से महान ही।

—शंकरजाल चतुर्वेदी बी० ४०, साहित्यरत्न

चित्रकेतुका मोह

प्राचीनकालमें शूरसेन प्रदेशमें चित्रकेतु नामक अत्यन्त प्रतापी राजा थे। वे पृथ्वीके एकचक्रव सम्राट् थे। उनके बहुतसी सुन्दरी रानियाँ थीं। अतुल धन-सम्पत्ति, विराट ऐश्वर्य, पृथ्वी भरका राज्य, अस्तरा-सी रानियाँ, कुलिनता, विद्या और युवावस्था ये सभी उस राजाको प्राप्त थीं, परन्तु वे सब वस्तुएँ उन्हें सुखी न कर सकीं—क्योंकि उनके कोई सन्तान न थीं। वे पुत्रके लिये बड़े ही दुःखी थे।

एक दिन महर्षि अङ्गिरा धूमते २ चित्रकेतुके राज-भवनमें पधारे। उन्होंने राजाको अत्यन्त चिन्तित देख कर उसका कारण पूछा। महाराज चित्रकेतुने विनय-से मुक्त कर निवेदन किया—‘भगवन्, आप तो प्राणियों-के बाहर भीतर सब कुछ जानते हैं। आपसे हिंपा ही क्या है? पृथ्वीका विशाल सम्राज्य, ऐश्वर्य और सम्पत्तियाँ जिनके लिये लोकपाल भी लालायित रहते हैं, मुझे प्राप्त हैं; परन्तु सन्तान न होनेके कारण किसी प्रकार भी शान्त नहीं पा रहा हूँ। पुत्रके अभावमें मृत्यु होनेपर आँख और पिण्डदान देकर परलोकमें प्राप्त होने वाले धोर नरकसे कौन मेरी रक्षा करेगा, यही चिन्ता मुझे दिन-रात बेतरह परेशान किये रहती है। ऋषिवर, आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, एक पुत्र देकर मेरी रक्षा कीजिये।’

सम्राट्की वर्थना सुनकर यहर्षि अङ्गिराने एक यज्ञ कराया और यज्ञका अवशेष प्रसाद राजाकी बड़ी रानी कृतशुतिको दिया। जाते २ कद्दते गए—‘महाराज! आपकी इस रानीके गर्भसे एक पुत्र तो होगा, किन्तु वह आपके हर्ष और शोक दोनोंका कारण बनेगा।’

महाराजी कृतशुति गर्भवती हुई। समय आने पर उन्हें एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र पैदा हुआ। इस समाचारसे देशकी प्रजा बड़ी सुशी हुई। महाराजके तो आनन्दकी सीमा न थी। पूरे राज्यमें उत्सव मनाया गया। महाराजने समयके अनुसार पुत्रका जातकर्म-संस्कार करवाया तथा ब्राह्मणोंको सोना,

चाँदी, बख्त, गाय, घोड़े, हाथी आदि मुँह-माँगी वस्तुएँ दान की। बहुत दिनोंतक निःसंतान रहनेपर महाराजको एक सन्तान मिली थी, फलतः उस पुत्रमें उनका स्नेह-बन्धन अधिकतर हड़ होता गया। रानी कृतशुतिको भी अपने पुत्रपर अत्यन्त आसक्ति बढ़ती जारही थी। महाराज अब पुत्र-स्नेहके बश अधिकतर बड़ी रानीके महलमें ही रहा करते। इसका फल यह हुआ कि महाराजकी दूसरी रानियाँ जलने लगीं। एक बो बाँझ होनेका दुःख, तिसपर भी पतिकी उपेक्षाने कटे हुए धावपर नमकका काम किया। वे बड़ी दुःखित हुईं। इस दुःखने धीरेधीरे प्रचण्ड द्वेषका रूप धारण कर लिया। इस द्वेषके कारण उनकी बुद्धि मारी गयी। उन्हें सौतकी भरी गोद न सुहायी। अन्तमें सबने मिलकर एक पड़यन्त्र रचा। उस अवोध नहेंसे शिशुको दूधमें चिप मिलाकर पिला दिया। बालक पलनेमें भूल रहा था। वह सदाके लिये उसी पलनेमें सो गया।

रानीने बच्चेको देरतक सोया देखकर धावसे बच्चेको अपने पास लानेके लिये कहा। धायने वहाँ जाकर बच्चेकी पुतलियाँको डलटी हुईं देखकर हाय! हाय! करती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी। रानी धायका आर्त्तनाद सुनकर दौड़ी हुई शयनागारमें आयी और बालकको अचानक मरा हुआ देख कर कटे हुए बृक्षकी तरह मूर्छित होकर गिर पड़ी। तदनन्तर कुररी पक्षीकी तरह उच्च स्वरसे विविध प्रकारसे विलाप करने लगीं। अब तो सारे रनिवासमें जोरोंका कुहराम मच गया। चिप देनेवाली रानियाँ भी वहाँ आकर भूठ-भूठ रोनेका ढोंग करने लगीं। महाराज चित्रकेतुको जब यह खबर मिली तो वे शोकके प्रबल आवेगमें पागल जैसे होकर ब्राह्मण और मन्त्रियोंके साथ गिरते पड़ते सृत बालकके पास पहुँचे और वे भी मूर्छित होकर उसके पैरोंके पास गिर पड़े। अब तो कृतशुति प्राणप्रिय पतिको अत्यन्त ब्याकुल देख कर

और भी विलख-विलखकर रोने लगी। राजा भी कुछ देरके बाद मूर्छा छूटनेपर शोकसे सन्तप्त होकर फूट-फूट कर रोने लगे। इन्हें रोते देख कर उपस्थित सब लोग दुःखित होकर रोने लगे। इस प्रकार सारे नगर-में शोकका समुद्र उमड़ पड़ा।

सर्वज्ञ अंगिरा और नारदजी इस मर्मान्तक घटनाका हाल जानकर ठीक समयपर राजभवनमें पधारे। उन्होंने राजासे कहा,—‘राजन् ! तुम तो इस बालकके लिए अत्यन्त शोक कर रहे हो। परन्तु क्या बतला सकते हो कि वह बालक पूर्व जन्ममें तुम्हारा कौन था ? तुम उसके कौन थे ? और अगले जन्मोंमें उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा ? सच बात तो यह है कि पिता, माता, पुत्र, भाई, बहन, आदि सम्बन्ध मायाके द्वारा कलिपत होते हैं। बास्तवमें ये सम्बन्ध सत्य नहीं हैं; क्योंकि ये सम्बन्ध पहले नहीं थे या पीछे भी न रहेंगे। वर्तमान अवस्थामें कालके बश होनेसे इस प्रकारके सम्बन्ध कलिपत हुए हैं। इसलिए अनित्य सम्बन्धी बस्तुओंके लिए शोक करना उचित नहीं। इस चराचर विश्वकी सृष्टि करने वाले भगवान् ही सबके भूल कारण हैं। तब जो जीवोंका माता, पिता, पुत्र, आदिका अभिमान होता है, वह मायाके अधीन होनेके कारण ही होता है।’

महाराज चित्रकेतुने उन दिव्य पुरुषोंके शोक दूर करने वाले उपदेशोंको सुनकर कुछ शांत हुए और नम्रतापूर्वक उनका परिचय पूछा। महर्षि अङ्गिराने कहा,—‘राजन् ! जिस समय तुम पुत्रके लिए अत्यन्त लालाखित थे, मैंने ही तुमको पुत्र दिया था। मैं अङ्गिरा हूँ। और जो मेरे साथ हैं, ये स्वयं ब्रह्माजी-के पुत्र देवर्षि नारद हैं। हमने तुम्हें पुत्र शोकसे अत्यन्त कातर देखकर सोचा कि तुम भगवान्के परम भक्त हो शोकके योग्य नहीं हो। इसीलिए हमलोग तुमपर अनुघ्य ह करनेके लिए यहाँ आये हैं। सच्ची बात तो यह है कि तुम पर प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पास पहले ही आया था और उसी समय परमार्थ तत्त्वका उपदेश करता। परन्तु उस समय मैंने देखा कि तुम पुत्रकी कामनासे अन्धे हो रहे हो। इसलिए

तुम्हें समयानुकूल शिक्षा देनेके लिए हृष्ट और शोक प्रदान करने वाला एक पुत्र दिया था। अब तुम स्वयं अनुभव कर रहे हो कि पुत्रवानोंकी दशा कैसी होती है। यही बात ल्ली, पति, घर, ऐश्वर्य, शत्रु, मित्र आदि सभीके लिए लागू है। क्योंकि ये सबके सब अनित्य हैं। यह सारा संसार इसी प्रकार दुःख-मय है।

महाराज चित्रकेतुका शोक अब भी पूर्णरूपसे दूर न हो सका था। वे अङ्गिरा शृणिके उपदेशोंका मर्म ठीक हृदयझम न कर सके। नारदजीने इसे मन-ही-मन ताड़ लिया। उन्होंने अपने योगबलसे मरे हुए बालककी आत्माको शोकार्त्त स्वजनोंके सामने प्रत्यक्ष बुलाकर कहा,—‘जीवात्मन् । देखो, तुम्हारे पिता-माता, बन्धु, बान्धव सभी तुम्हारे वियोगसे अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं। तुम फिरसे अपने शरीरमें प्रवेशकर इन्हें सुखी करो तथा इस विशाल राज्यका सुख भोगो।’

सब लोगोंके सामने ही बालककी आत्माने उत्तर दिया,—‘देवर्ष ! ये मेरे किस जन्मके माता-पिता हैं ? बात यह है कि जीवात्मा नित्य है, उसका जन्म और मृत्यु नहीं है। अपने कर्मोंके अनुसार वह देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें भटकता फिरता है और अनित्य कालके लिए परस्पर पिता, माता, भाई, बहन, पति, पत्नी, पुत्र, शत्रु, मित्र आदि सम्बन्धोंको जोड़ कर अपनेको कभी दुःखी और कभी सुखी मानता है। बास्तवमें जीवके स्वरूपमें ये अनित्य सम्बन्ध नहीं हैं। इस लिए उनको शोक करना उचित नहीं। मैं अपने कर्मोंके अनुसार अनेक बार इनका पिता रहा हूँ, और अनेकबार ये मेरे। ये सब सम्बन्ध तो शरीरके हैं न कि जीवात्माके। जीवात्माका इस शरीरसे सम्बन्ध छूट जानेपर ये सब सम्बन्ध भी यही छूट जाते हैं। फिर तो सबको अपने ही कर्मोंके अनुसार फल भोगना पड़ता है।’

जीवात्मा इस प्रकार कहकर चला गया। उसके सगे-सम्बन्धी उसकी बातोंको सुनकर विसित हुए। चित्रकेतु और उनकी पत्नियोंका मोह अब दूर हो

चुका था । बालककी हत्या करने वाली रानियाँ अत्यन्त लजित हुईं । उन्होंने अङ्गिराके उपदेशोंको स्वरणकर जमुनाके तटपर ब्राह्मणोंके आदेशसे बाह्यहत्याका प्रायश्चित्त किया । राजा चित्रकेतुने भी पुत्रके शवका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया । तदनन्तर स्नान और तर्पण आदि धार्मिक क्रियाओंको पूराकर अङ्गिरा और नारदजीके पैरों पर गिर पड़े । देवर्षि नारदने उनको परम भागवत्, जितेन्द्रिय और शरणागत जान

कर भगवत् तत्त्वका और उसकी प्राप्तिके लिए भगवद् आराधना अर्थात् भगवद्भूक्तिका उपदेश दिया । महाराज चित्रकेतुका उसी आराधनाके प्रभावसे कुछ ही समयमें भगवान् श्रीअनन्तदेवके दर्शन हुए । वे विषम संसार-सागरको पार कर—मायिक सुख-दुःख, जन्म-मृत्युको पारकर भगवत्-सेवा-सुखमें मग्न हो गए ।

— (श्रीमद्भागवत् ६।१४-१६)



शरणागति

आत्मनिवेदन—ममतास्पद
देहसर्पण (वाचिक)

[३० विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर]



सभी तुम्हारे चरण सौंपके पहा तुम्हारे घर मैं ।
तुम स्वामी हो, पला हुआ तुम्हारा एक कुकुर मैं ॥
बाँध रखो तुम पास आपने रहूँ तुम्हारे ढारै ।
रात्रु आदि सब दूर भगाऊँ, रख सीमाके पारै ॥
भक्त तुम्हारे प्रसाद-सेवन कर जो जूठन त्यागे ।
बड़ी खुशीसे अपना भोजन, नित्य सोइ हम माँगे ॥
सोबत—बैठत चिन्ता तुम्हरे चरणों ही की लावैं ।
नाचत नाचत तबही आवैं जबही नाथ बुलावैं ॥
निज पोषणकी करूँ न चिन्ता रहूँ भाव में भरै ।
भक्ति विनोद तुम्हींको अपना पालक बरै ॥



जैव-धर्म

[पूर्व प्रकाशित चर्च १, संख्या १०, पृष्ठ २४० से आगे]

लाहिड़ी—‘यदि विद्याध्ययनके द्वारा ज्ञान लाभ करना होता है तो वैष्णव होनेके लिये क्या वाइड्यत्यकी आवश्यकता होती है?’

बाबाजी—‘वैष्णव बननेके लिए किसी विद्या या किसी भाषाकी शिक्षा नहीं लेनी पड़ती। जीवका मायाधर्म दर करनेके लिए सद्गुरु सद्वैष्णवके चरणोंमें आश्रय लेना चाहिए। वे अपनी वाणी और आचरणके द्वारा सम्बन्ध-ज्ञानका उदय करा देते हैं। इसीका नाम दीक्षा और शिक्षा है।’

लाहिड़ी—‘दीक्षा और शिक्षाके बाद क्या करना होता है?’

बाबाजी—‘सद्वरित्रिताके साथ कृष्णका भजन करना होता है। इसीका नाम अभिधेय-तत्त्व है। यह तत्त्व वेदादि समस्त शास्त्रोंमें प्रचलितसे अभिहित (कथित) होनेसे श्रीमन्महाप्रसुने इसका नाम अभिधेय तत्त्व रखा है।’

आँखोंमें आँसू भर कर लाहिड़ी महाशयने कहा—‘गुरो ! मैं आपके श्रीचरणोंमें आश्रय लेता हूँ। आपकी मधुर वाणियोंको सुनकर मुझे सम्बन्ध ज्ञान हो गया और साथ-ही साथ न जाने कैसे आपकी कृपासे मेरे बण, शिक्षा, और विद्या आदिके सारे संस्कार दूर हो गये। अब कृपा कर मुझे अभिधेय-तत्त्वकी शिक्षा प्रदान करें।’

बाबाजी—‘अब कोई चिन्ता नहीं है। जब आपमें दीनता आ गयी है तब समझ लीजिए कि श्रीचैतन्य-देवने आप पर अवश्य कृपा की है। जगत्में फँस हुए जावांके लिए साधु-संग ही एक मात्र उपाय है। साधु-गुरु कृपा कर भजनकी शिक्षा देते हैं। उसी भजनके बलसे धीरे-धीरे प्रयोजन लाभ होता है। भगवद्भजनको ही अभिधेय कहते हैं।’

लाहिड़ी—‘मुझे बतलाइये कि क्या करनेसे भगवान्का भजन होता है?’

बाबाजी—‘भक्ति ही हरिभजन है। भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। पहले

साधन-भक्ति करते-करते ‘भाव’ उदय होता है। उसी भावको पूर्ण होनेपर ‘प्रेम’ कहते हैं।’

लाहिड़ी—‘साधन कितने प्रकारके होते हैं? और किस तरहसे उनका साधन करना होता है?’

बाबाजी—‘श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु’ नामक ग्रन्थमें श्रीरूपगोस्वामीने इन विषयों पर विस्तारसे लिखा है। मैं संक्षेपमें उसे बतलाता हूँ। साधन नव प्रकारके हैं—

“त्रिवर्णं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥”

(श्रीमद्भागवत ७।१।२३)

त्रिवर्ण, कीर्तन, स्मरण, पदसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नव प्रकारकी साधन-भक्तिका वर्णन श्रीमद्भागवतमें किया गया है। श्रीरूपगोस्वामीने इन्हीं नवोंका विस्तार कर अङ्ग-प्रत्यंगके साथ चौसठ प्रकारकी साधन-भक्तिका वर्णन किया है। इसमें एक विशेष बात यह है कि साधन भक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा। वैधी साधन-भक्ति उपर्युक्त नव प्रकारकी होती है। और केवल ब्रजवासियोंका उन्नुगामी होकर उनकी तरह कृष्णकी मानस-लेवाको रागानुगा साधन भक्ति कहते हैं। जो साधक जिस तरहकी भक्तिका अधिकारी है, उसे उसी प्रकारका साधन करना चाहिए।’

लाहिड़ी—‘साधनभक्तिमें अधिकारका विचार किस तरह किया जाता है?’

बाबाजी—‘गुरुदेव जिस अद्वाल साधकको शास्त्र की विधियोंके अधीन रहनेका अधिकारी समझें उसे पहले-पहल वैधी-साधन भक्तिकी शिक्षा देंगे। जो रागानुगा भक्तिके अधिकारी है उन्हें रागमार्गीय भजनकी शिक्षा देंगे।’

लाहिड़ी—‘अधिकार कैसे जाना जाता है?’

बाबाजी—‘जिनकी आत्मामें राग तत्त्वकी उपलब्धी नहीं हुई होती और जिन्हें शास्त्रकी विधियोंके अनुसार उपासनादि करनेकी इच्छा होती है वे वैधी-

भक्तिके अधिकारी हैं। और जो हरिभजनमें शास्त्रकी विधियोंके अधीन नहीं रहना चाहते वहिरु उनकी आत्मामें हरि भजनके लिए स्वाभाविक अनुराग उदित हो गया है, वे रागानुगा भजनके अधिकारी हैं।

लाहिड़ी—‘प्रभो ! आप मेरा अधिकार निर्णय कर दीजिये, जिससे मैं अधिकार तत्त्वको समझ सकूँ। वैधी और रागानुगा भक्तिका विचार मैं अभी भी समझ नहीं पा रहा हूँ।’

बाबाजी—‘अपने चित्तकी परीक्षा करने पर आप अपना अधिकार स्वयं समझ सकते हैं। क्या आप सोचते हैं कि शास्त्रके अनुसार नहीं चलनेसे भजन नहीं हो सकता ?’

लाहिड़ी—‘मुझे ऐसा लगता है कि शास्त्र द्वारा निर्दीरित की गयी विधियोंके अनुसार साधन भजन करनसे अधिक उपकार होता है। किन्तु आजकल मेरे मनमें यह बात भी आती है कि हरि-भजन रसका समुद्र है, वह धीरे-धीरे भजनके बलसे पाया जा सकता है।’

बाबाजी—‘अब देखिये, आपके हृदयमें शास्त्रकी विधियोंका ही अधिक आधिपत्य है। अतएव आप वैधी-भक्तिका अवलम्बन करें। धीरे-धीरे राग-तत्त्व हृदयमें उदित हो जायगा।’

यह सुनकर लाहिड़ी महाशय मजल नवनोंसे बाबाजीके चरणोंमें गिरकर कहने लगे—‘आप कृपाकर वैधी या रागानुगा भक्तिकी शिक्षा—जिसमें मेरा अधिकार हो—प्रदान करें। अब मैं अनाधिकार चर्चा नहीं करना चाहता।’

बाबाजीने उनको गले लगाकर बैठाया।

लाहिड़ी—‘अब मैं किस प्रकार भजन करूँ—मुझे स्पष्ट आज्ञा दीजिये।’

बाबाजी—‘आप हरिनाम’ प्रणाम कीजिये। समस्त भजनोंकी अपेक्षा श्रीनाम भजन ही अधिक बलवान होता है। नाम और नामीमें भेद नहीं है। निरपराध होकर नाम प्रणाम करें। नाम करनेसे नवाँ तरहका भजन (नवधा) भक्ति होजाता है। नामका उच्चारण करनसे अवण और कीर्तन दोनों होता है। नाम

करनेके साथ-ही-साथ भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण और मन द्वारा पदसेवा, अर्चन, दण्डन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन सभी हो जाते हैं।’

लाहिड़ी—‘मेरा चित्त व्याकुल हो गया है। प्रभो ! कृपा करनेमें देर न करें।’

बाबाजी—‘आप निरपराध होकर निरन्तर यही नाम किया करें—

‘हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।’

यह कहते-कहते बाबाजीने लाहिड़ी महाशयके हाथमें एक तुलसीकी माला दी। लाहिड़ी महाशय उस मालापर उक्त नाम उच्चारण करते-करते रो पड़े; और कहने लगे—‘प्रभो ! आज मुझे कितना आनन्द लाभ हुआ, कह नहीं सकता।’

इनकहते-कहते बे आनन्दके मारे अचेतन होकर बाबाजीके पैरोंमें गिर पड़े। बाबाजीने उन्हें साथधानीसे पकड़ कर रखा। बहुत देरके बाद लाहिड़ी महाशय बोले—‘आज मैं धन्य हो गया। मैंने कभी भी ऐसा सुख नहीं पाया था।’

बाबाजी—‘आप धन्य हैं, क्योंकि आपने अद्वा-पूर्वक श्रीहरिनाम प्रदण किया। आपने मुझे भी धन्य कर दिया।’

उस दिनसे लाहिड़ी महाशय माला लेकर अपनी कुटिमें निर्मय होकर नाम करने लगे। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गये। लाहिड़ी महाशय अब अपने शरीरमें द्वादश तिळक लगाते हैं। भगवान्‌को निवेदन की हुई वस्तुओंके अतिरिक्त कुछ भी भोजन नहीं करते। प्रतिदिन दो लाख दरिनाम करते हैं। शुद्ध वैष्णवोंको देखते ही दण्डवत् प्रणाम करते हैं। परम-हृस बाबाजीको नित्य दण्डवत् प्रणाम करनेके बाद कोई दूसरा काम करते हैं। अपने गुरुदेवकी सर्वदासेवा करते हैं। व्यर्थकी बातों और उस्तादी गानोंमें उनकी अब रुचि नहीं है। लाहिड़ी महाशय पहलेके लाहिड़ी महाशय नहीं रहे। अब वे वैष्णव हो गये हैं।

एक दिन लाहिड़ीने वैष्णवदास बाबाजीको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर जिज्ञासा की—‘प्रभो ! प्रयोजन तत्त्व क्या है ?’

भावाजी—‘कृष्ण-प्रेम ही जीवका प्रयोजन तत्त्व है। साधन करते-करते भाव उदय होता है। भाव पूर्ण होनेपर प्रेम कहलाता है। वही जीवका नित्यधर्म है, वही नित्य धन है, और वही नित्य प्रयोजन है। उस प्रेमके अभावसे ही जीव नाना तरहके कष्ट पाते हैं, जड़ बन्धनमें पड़ते हैं, तथा विषयोंमें फँस जाते हैं। प्रेमसे बढ़ कर और कुछ भी नहीं है। कृष्ण केवल प्रेमके बशमें होते हैं। प्रेम चिन्मय तत्त्व है। आनन्द घनीभूत होकर प्रेम होता है।’

लाहिड़ी—(रोते-रोते) ‘क्या मैं प्रेम लाभ करने के योग्य हो सकूँगा ?’

भावाजी—(लाहिड़ी महाशयको गले लगाकर) ‘थोड़े ही दिनोंमें आपने साधन-भक्तिको भावभक्ति बना लिया है, और कुछ ही दिनोंमें आप पर कृष्ण अवश्य कृपा करेंगे।’

यह सुनकर लाहिड़ी महाशय आनन्दसे गद्गद होकर भावाजीके चरणोंमें लोटते-लोटते कहने लगे—‘अहा ! गुरुके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। हाय ! मैं इतने दिनों तक क्या करता रहा ? गुरुदेवने आपने आप ही कृपाकर विषय-कूपसे मेरा उद्धार किया।’

(क्रमशः)

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥

श्रीश्रीनवद्वीपधाम-परिक्रमा और श्रीगौर-जन्मोत्सव

श्रीश्रीब्रह्म-माध्व गौड़ीयाम्नायाचार्यवर्य उभिष्ठानु-पाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रवान केशव गोस्यामीपादके पौरो-हित्यमें श्रीगौड़ीय बेदान समिति द्वारा पिछले बर्षों-की तरह इस वर्ष भी श्रीनवद्वीप-धामकी परिक्रमा और श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुका जन्मोत्सव खूब समारोहके साथ सुसम्पन्न हुआ है। भारतके विभिन्न स्थानोंके विपुल यात्रियोंने इसमें योगदान किया था। उन्होंने समितिके त्रिदरडी संन्यासियोंके आनुगत्यमें, मृदङ्ग और करनालके साथ संकीर्तन करते हुए, श्रीगौरनामांकित विचित्र पताकाओंको हाथमें लेकर, विचित्र रत्नोंसे मणिडत श्रीमन्महाप्रभुजीकी पालकी-को आगेकर, श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके भक्तोंके पदांकपूत सन्धिनी-शक्ति द्वारा प्रकटित चिन्मय गौरलीला-भूमिकी परिक्रमा की है।

श्रीनवद्वीपधामका परिचय

श्रीचैतन्यदेव साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण हैं। वे जगतमें अत्यन्त दुर्लभ कृष्ण-प्रेमका दान करनेके लिये श्रीमती राधाके भाव और कान्तिको प्रहणकर श्रीवृन्दावनसे अभिन्न अपने नवद्वीपधामके साथ इस कलिकालमें प्रकट हुए हैं। शास्त्रोंमें श्रीनवद्वीप धामकी वही महिमा लिखी गयी है। हम उनमेंसे कर्तिपय चत्वरोंको उद्धृत कर रहे हैं—

१. अत्र ब्रह्मपुरं नाम पुण्डरीकं यदुच्यते ।

तदेवाष्टदलं पद्म सन्निभं पुरमद्वृतम् ॥

तन्मध्ये दहरं साक्षात् मायापुरमितीर्यते ।

तत्र वेशम भगवतश्चैतन्यस्य परात्मनः ॥

(छान्दोग्य उपनिषद्)

२. रहस्यं ते विद्ययामि जाहूवी तीरे नवद्वीपे

गोलोकाश्वेधाम्नि गोविन्दो द्विमुजो गौरः

सर्वात्मा-महापुरुषः महात्मा-महायोगी, त्रिगु-

णीतीतः सत्त्वरूपो भक्ति लोके काश्यतीति ॥

(चैतन्योपनिषद्)

३. कलौ संकीर्तनारम्भे भविद्ययामि शाचीसुतः ।

स्वर्णश्युतिः समास्थाय नवद्वीपे जनाश्रये ॥

(वायु पुराण)

४. अहं पूर्णो भविद्ययामि युगसन्धी विशेषतः ।

मायापुरे नवद्वीपे वारमेकं शाचीसुतः ॥

(गहड़-पुराण)

५. गङ्गायाः दक्षिणे भागे नवद्वीपे मनोरमे ।

कलिपाप-विनाशाय शाचीगर्भे सनातनि ॥

(विश्वसारतन्त्र)

६. साधवः कलिकाले तु त्यक्त वान्यतीर्थसेवनं ।

वृन्दावण्येऽथवाज्ञेत्रे नवखडे वसन्ति वा ॥

(गहड़-पुराण)

७. य एव राधिकाकृष्णः स एव गौरविप्रह ।
 यच्च वृन्दावनं देवि ! नवद्वीपञ्च तत् शुभम् ॥
 वृन्दावने नवद्वीपे भेदवृद्धिश्च यो नरः ।
 तथैव राधिकाकृष्णे श्रीगौराङ्गे परामनि ॥
 मच्छुलपातनिभिन्नदेहः सोऽपि नराधमः ।
 पच्यते नरके योरे यावदाहूतसंज्ञवम् ॥

(अनन्त संहिता)

इन शास्त्रीय वचनोंके अतिरिक्त सिद्ध महात्माओं और अनुभवी पण्डितोंकी अनुभूतियाँ भी नीचे अनुचालके साथ उद्धृतकी जारही हैं—

(क) श्रीगौरगणोदे शदीपिकामें—

‘रसज्ञाः श्रीवृन्दावनमिति यमाहृष्वहुविदो
 यमेतं गोलोकं कतिपयजना प्रादुरपरे ।
 सितद्वीपं प्राहुः परमपि परब्योम जगतर्नव-
 द्वीपः सोऽयं जयति परमाश्चर्यं महिमा ।’

[अर्थात् रसज्ञ लोग जिसे श्रीवृन्दावन कहते हैं, अनेक विषयोंमें पण्डित लोग जिसे गोलोक कहते हैं, कोई-कोई जिसे श्वेतद्वीप और कोई-कोई परब्योम भी कहते हैं, अत्यन्त आश्चर्य महीमासे युक्त उस नवद्वीपधामकी जय हो ।]

(ख) श्रीमद्भूषणोस्वामी—

यस्मै परब्योम वदन्ति केचित्
 केचिच्चन्त गोलोक इतीरयन्ति !
 वदन्ति वृन्दावनमेव तज्ज्ञा—
 स्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरोमि ॥

[जिसे कोई-कोई परब्योम कहते हैं, कोई गोलोक कहते हैं, और तत्त्वविद् व्यक्ति जिसे वृन्दावन कहते हैं, मैं उसी नवद्वीप धामका स्मरण करता हूँ ।]

हमने यहाँ केवल कतिपय शास्त्रीय वचनों तथा सिद्धमहापुरुषों—महाजनोंकी वाणियोंको उद्धृत करके श्रीनवद्वीप धामके विषयका दिग्दर्शन मात्र कराया है । श्रीनवद्वीप धाम स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेवकी अप्रकृत लीलाभूमि है । कलिकालमें समस्त तीर्थ इसी महातीर्थमें वास करते हैं । अनन्त-संहिताका तो इतना

तक कहना है कि कोई भले ही पृथ्वीपर हजार-हजार तीर्थोंमें ध्रमण क्यों न करे, आगर वह नवद्वीपका दर्शन न करे तो श्रीराधाकृष्णको प्राप्त नहीं कर सकता । अतः कलिकालमें सभी सज्जनवृन्द अन्यान्य तीर्थोंको छोड़कर नवद्वीप द्वे त्रिमें वास करते हैं ।

नवद्वीप-धामकी परिवि १६ कोसमें है । १६ कोस कहे जानेपर भी भौतिक स्थानोंकी तरह धामकी संकीर्णता अथवा सीमावद्धताका बोध नहीं होता । वह इस प्रपञ्चमें उत्तर कर भी प्रपञ्चसे अतीत है तथा प्रपञ्चमें असीम होकर भी अद्वालु व्यक्तियोंके निकट परिधियुक्त हैं । जैसे भगवान् वृहत्से वृहत् होने पर भी, विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त रहकर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे अपने प्रेसी भक्तोंके निकट नित्य परमकिशोर द्विभुज मुरलीधर श्यामसुन्दर गोपीनाथके रूपमें वर्तमान रहते हैं । भगवान् और भगवद्वाम दोनों अभिन्न हैं । धामको भगवान्से पृथक् नहीं किया जा सकता ।

इस धाममें नव द्वीप है । वीचों-वीचसे भागीरथी गंगा प्रवाहित होती है । यहाँ गंगामें अनेक धाराएँ निकलकर धामको नव द्वीपोंमें विभक्त किये हुई हैं । मानों वैकुण्ठसे विष्णुके चरणकमलोंको छोड़कर गंगा विरहोन्मादिनी जैसी होकर इस धाममें अनेक रूपोंको धारण कर अपने प्रियतमके चरणकमलोंको पुनः दर्शन करनेके लिए—उन्हें धोनेके लिए इधर उधर ढूँढ़ रही हों । मूल गंगाके पूरबमें चार द्वीप हैं—(१) अनन्तर्द्वीप श्रीमायापुर, (२) सीमन्तद्वीप, (३) गोद्र-मद्वीप और, (४) मध्यद्वीप । तथा पश्चिममें पाँच द्वीप हैं—(१) कोलद्वीप, (२) छतुद्वीप, (३) जहूद्वीप, (४) मोद्रमद्वीप और (५) रुद्रद्वीप ।

नवद्वीप नवधा भक्तिका स्वरूप है । श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पदसेवा, अर्चन, अन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन-भक्तिके नव प्रकारके साधन हैं । इनको साधन-भक्ति अथवा नवधा-भक्ति कहते हैं । नवद्वीपका एक द्वीप इस नवधा भक्तिके एक एक भक्ति-का साक्षात् स्वरूप है । सीमन्तद्वीप—श्रवणका, गोद्रमद्वीप—कीर्तनका, मध्यद्वीप—स्मरणका, कोल-

द्वीप—पद्मेवाका, श्रुतुद्वीप—अर्चनका, जहुद्वीप—वंदनाका, मोदुमद्वीप—दास्यका, सुद्वीप—सख्यका और अन्तद्वीप—आत्मनिवेदन स्था भक्तिका चेत्र है। अन्तद्वीप श्रीमायापुर उपरके आठ द्वीपोंके बीचों-बीच भागमें स्थित है। यही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका आविर्भाव स्थान है। यही पर आजकल एक विशाल मन्दिर बना हुआ है। इन स्थानोंकी परिक्रमा करनेसे तत्त्व भक्तिका उदय होता है।

यों तो साधकके लिए नवधार्भक्तिके प्रत्येक छंग ही उपयुक्त हैं और इनमेंसे किमी एक भक्तिका साधन करके ही साध्य बस्तुको प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु कलिकालमें समस्त प्रकारकी भक्तियोंमें संकीर्तन की ही विशेषस्थिति प्रधानता दी गयी है। कीर्तन करनेसे श्रवण और स्मरण अपने आप हो जाता है। कीर्तन द्वारा भगवान्की लीलाओंका स्मरण, और मनसे पद्मेवा, अर्चन वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन सभी हो जाते हैं। श्रीजीवगोस्वामी तो यहाँ तक कहते हैं कि कलिकालमें किसी भी भक्तिका साधन क्यों न किया जाय, कीर्तन-भक्तिके सहयोगसे ही करना चाहिए। अतः गौड़ीय वेदान्त समिति पहले दिन कीर्तनभक्तिके स्थान—श्रीगोदुमद्वीपकी ही परिक्रमा करती है।

परिक्रमाका विवरण

७ चैत्र, बुधवार—सुबहमें विराट नगर संकीर्तन और शोभा यात्राके साथ श्रीम-महाप्रभुकी रज्जनविडत पालकी, अंविष्टगुपाद श्रीलभक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीपाद, त्रिदण्डीस्वामी श्रीमद्भक्तिजीवन जनार्दन महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त परमार्थी महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त शुदाहैती महाराज आदि पूजनीय वैष्णवोंको आगे कर यात्रियोंने १६ कोस श्रीश्रीनवद्वीप धामकी परिक्रमा आरंभ की। आधुनिक नवद्वीप शहर होते हुए गंगा नदीको पार कर तटसे श्रीमायापुरका दर्शनकर उनके उद्देश्यसे सभीने वहाँसे दण्डवत् प्रणाम किये। वहाँसे सुरभिकुञ्जका दर्शन कर स्वानन्द-सुखदकुञ्जमें आकर श्रीगौर-

गदाधर, श्रील भक्ति विनोद ठाकुरका समाधि-मन्दिर तथा श्रीगौर किशोरदास बाबाजीकी भजनकुटीका दर्शन किया। वहाँसे सुवर्ण विहार, हरिहर चेत्र आदिका दर्शन करते हुए यात्री दल श्रीनृसिंहपल्लीमें पहुँचा। वहाँ पर नृसिंहदेवका एक मन्दिर है। सभी ने नृसिंहदेवके दर्शन किये। यहाँ पर पहलेसे ही बड़े-बड़े २०-२५ ताँबू लगे हुये थे तथा यात्रियोंके प्रसाद पाने आदिकी सुन्दर व्यवस्था की गयी थी। मानों आज यहाँ एक नया नगर बसाया गया हो। दोपहरमें भोग-राग होनेके बाद सबने प्रसाद पाया और खेमोंमें विश्राम करने लगे। आज रातमें यही ठहरनेकी व्यवस्थाकी गयी थी। शामको आरती, कीर्तन, और प्रबचन होनेके बाद प्रसाद दिया गया। फिर सभी अपने अपने खेमों में चले गये। स्वयं-सेवकोंकी सेवा अत्यन्त सराहनीय रही।

(c) चैत्र, बृहस्पतिवार—रातसे ही श्रीम-भीम कर वर्षा हो रही थी। नित्य क्रिया समाप्त कर सभी प्रस्तुत थे, वर्षा बन्द होते ही उ बजे सभी यात्री पहले दिनकी तरह संकीर्तन करते-करते चल पड़े। इधर सारे ताँबू और यात्रियोंके माल-असवाब टूक द्वारा अगले पड़ावपर चला गया। रास्तेमें थोड़ी-थोड़ी वर्षा भी हुई, किन्तु इससे मौसिम ठंडा रहनेके कारण अच्छा ही रहा। यात्रीदल मध्यद्वीपमें हाटडांगा (कुरुक्षेत्र), ब्राह्मण-पुष्करतीर्थ, हंसवाहन शिव, सप्त-धियोंका सप्तटीला, नैमिपारण्य आदिका दर्शन करता हुआ, गंगानदीको पारकर समुद्रगढ़ पहुँचा। यहाँ पर समुद्रसेन राजाने कृष्णको दर्शन करनेकी लालसामें भीमकी रखवालीमें निकले हुए अश्वमेघ यज्ञके घोड़े-को पकड़ा था तथा भीमको हरा दिया था। भीमने जब आर्त होकर कृष्णको पुकारा तब भक्तवत्सल कृष्ण उनकी सहायताके लिये वहाँ प्रकट हुए और समुद्रसेनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उन्हें भी दर्शन दिये थे। वहाँसे श्रुतुद्वीपमें चौपाहाटी नामक ग्राममें उपस्थित हुए। यहाँ पर गीत-गोविन्दके रचयिता श्रीजयदेव कवि अपनी पत्निके साथ भगवान्की आराधना करते थे। आज यहाँ पर पड़ाव पड़ा था रातमें खूब जोरोंसे वर्षा होती रही।

(६) चैत्र शुक्रवार—सबेरे पानी बरसना चन्द हुआ। कल एकादशीका उपवास था। अतः आज सबेरे सवने पारण किया तथा दोपहरमें प्रसाद पानेके बाद परिक्रमाके लिये चल दिये। रास्तेमें जहुदीपमें जहु मुनिका स्थान, विद्यानगर (सार्वभौम भट्टाचार्यकी गही) तथा मोदद्रुम दीपमें मामगाढ़ी, अकंठीला, मातापुर (पारणबंडके अङ्गातवामका स्थान) आदिका दर्शनकर श्रीदेवानन्द गौड़ीयमठमें उपस्थित हुए।

(७) चैत्र, शनिवार—कोलदीपमें प्रौढ़ामायाका तथा श्रील जगन्नाथदास बाबाजीका समाधि मन्दिर दर्शनकर रुद्रदीपमें उपस्थित हुए। यहीं पर ११ रुद्रदेवोंने भगवान् गौरचन्द्रकी आराधना की थी तथा उनके दर्शन पाये थे। यहीं शुद्धादैतके आचार्य श्रीविष्णु-स्वामीने रुद्रदेवकी कृपा पायी थी। फिर वहाँसे श्रीदेवानन्द गौड़ीयमठमें लौट आये।

(८) चैत्र, रविवार—आज परिक्रमा संघ नवीन उत्साह और अद्वासे श्रीअन्तदीप मायापुर पहुँचा। वहाँ सर्वप्रथम श्रीजगन्नाथमिश्रके भवनकी परिक्रमाकी गयी। वहाँ एवं यहाँ विशाल मन्दिर है। इसमें तीन प्रकोष्ठ है। एकमें श्रीमन्महाप्रभुके दोनोंतरफ क्रमशः श्रीविष्णुप्रियाजी तथा श्रीलक्ष्मीप्रियाजी, दूसरेमें महाभावचक्षस्थामें गौरसुन्दर तथा राधामायव और तीसरेमें पंचतत्त्व विराजमान हैं। परिक्रमा और दर्शनके बाद श्रील आचार्यदेवके स्वरूप तत्त्वपूर्ण भाषण हुए। भाषणके बाद निकट ही नीमके पेड़के नीचे महाप्रभुका सुनिकागृह, चैत्रपाल शिव, नृसिंहदेव और गौरकुण्डका दर्शन किया गया। उसके बाद श्रीबासांगन, अद्वैतभवन, भक्ति विजयभवन, श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरका समाधि मन्दिर, चैतन्यमठ श्रील गौरकिशोरदास बाबाजीका समाधि मन्दिर (यहाँ भी श्रील आचार्य देवके भाषण हुए), चौदकाजीकी समाधी, श्रीधर अंगन, मुरारीगुप्तका पाट (गही) आदिका दर्शन कर दोपहरमें श्रीगौर जन्मस्थलीमें आकर विश्राम किया गया। आज दोपहरमें यहीं एक विराट महोत्सवका आयोजन किया गया था, जिसमें

लगभग ५००० लोगोंको तरह-तरहका विचित्र प्रसाद वितरण किया गया। शामको नवद्वीप श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठमें लौट आये।

प्रत्येक दिन जहाँ भी पड़ाव पड़ता था, सबेरे भगवान्की मंगल आरती, अर्चन, संकीर्तन, पाठ तथा शामको संध्या-आरती, संकीर्तन, प्रवचन, वक्तृता, छाया चित्र द्वारा भगवान्की विविध लीलाओं पर वक्तृता आदिकी सुन्दर व्यवस्था होती थी। ठीक समय पर भगवान्का भोग-राग लगता था। परमाराध्यतम श्रील आचार्यदेव, त्रिदेवी स्वामी श्रीमद् भक्तिजीवन जनार्दन महाराज, श्रीमद् भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, और श्रीमद् भक्तिवेदान्त परमार्थ महाराजके अमृतमय भक्तिके उपदेश, स्थानोंकी महिमा तथा भक्त और भगवान्की मधुर लीलाओंको सुनकर यात्री इन सात दिनों तक अपने घर-द्वार और स्वजनोंकी सुध-तुव स्वाकर सर्वदा हरिकथा श्रवण और कीर्तनमें मन रहे। १२ चैत्रको सभी लोगोंने उपवास रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शुभ आविर्भाव तिथिको सुन्दर रूपसे मनाया। सारे दिन श्रीचैतन्य भागवतका परायण होता रहा। चारों ओर आम्र पल्लव और रंग-विरंगी पताकाओंसे मठ सुन्दर रूपसे सजाया गया था। हरिध्वनि और कीर्तनके बीच ठीक संध्याके बाद भोग-राग और संध्यारात्रिक कीर्तन हुआ। रातमें छाया चित्र द्वारा श्रीमन्महाप्रभुकी लीलाके सम्बन्धमें श्रीमद्भक्तिजीवन जनार्दन महाराजने एक सुन्दर वक्तृता दी।

दूसरे दिन १३ चैत्रको सर्वसाधारणके लिए एक विराट महामहोत्सवका आयोजन किया गया जिसमें करीब पाँच-छः हजार लोगोंने श्रीमन्महाप्रभुका विचित्र प्रसाद पाया। अन्तमें हम इसमें भाग लेने वाले और सहायता करने वाले सभी सज्जनोंको धन्यवाद देते हैं। हम आशा करते हैं कि वे प्रत्येक वर्ष अपने दायित्वका पालनकर श्रीमन्महाप्रभुके कृपाभाजन होंगे।

— प्रकाशक